

खंड

4

fganh nfyr vkRedFku

इकाई 16

nfyr vkRedFkk dh fo'ks'krk % I kekft d&
I kL—frd i fj fLFkfr; k ds nLrkost.

5

इकाई 17

'जूठन' % vkReku dh eek d vfHk; fDr

23

इकाई 18

'जूठन' % voekuuk vkj cfg"dkj ds nd k

39

इकाई 19

अपने-अपने पिंजरे-1

54

इकाई 20

अपने-अपने पिंजरे-2

64

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

i ks vke voLFkh गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर	i ks fueyk tʃu ʃl ɔkfuɔʊkʃ ए-21/71, कुतुब एन्क्लेव, फेज-I, गुड़गांव, हरियाणा	i ks jkeLo: i prɔpɪh 3, बैंक रोड, इलाहाबाद
i ks xki ky jk; सी-3, कावेरी, इग्नू आवासीय परिसर, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली	i ks iɛ 'kɔdj ʃl ɔkfuɔʊkʃ बी-16, सागर विश्वविद्यालय परिसर, सागर	i ks yYyu jk; ʃl ɔkfuɔʊkʃ 3, प्रीत विला, समर हिल, शिमला
i ks ukeoj fl ɔ 32-ए, शिवालिक अपार्टमेंट अलकनंदा, नई दिल्ली	i ks eɪtʃ fjtəh ʃl ɔkfuɔʊkʃ 220, जाकिर नगर नई दिल्ली	i ks f'kodɔkj feJ ʃl ɔkfuɔʊkʃ एफ-17, मानसरोवर पार्क कालोनी पंचायती हॉस्पिटल मार्ग बल्लभ विद्यानगर, गुजरात
i ks fuR; kum frokjh ʃl ɔkfuɔʊkʃ दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	i ks eʃstj i k.Ms ʃl ɔkfuɔʊkʃ जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय नई दिल्ली	Lo- f'ko iɪ kn fl ɔ वाराणसी
		i ks l j tHkkɪ fl ɔ आई-127, नारायणा विहार, नई दिल्ली

i kB; Øe fuekʃ k

i kB yʃkd l i knɔ MKW ctjæ fcgkjh frokjh देशबंधु कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय	bdkbʃ l a; k 16	i kB; Øe l a kstɔ , oɑ l i knɔ i ks foey fkkjkr मानविकी विद्यापीठ इग्नू, मैदान गढ़ी,, नई दिल्ली
MKW rstLoh dVvheuh मौलाना आजाद राष्ट्रीय उर्दू विश्वविद्यालय हैदराबाद (आंध्र प्रदेश)	17	
i ks foey fkkjkr मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, मैदान गढ़ी,, नई दिल्ली	18	
MKW fujatɪ u l gk; काशी हिंदी विद्यापीठ, बनारस (उ.प्र.)	19-20	

enʒ k fuekʃ k vkoj . k fp=dkj l fpoky; h l g; ks

l h- , u- i kMs अनुभाग अधिकारी मानविकी विद्यापीठ इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली	l oh l koj dj मानविकी विद्यापीठ इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली	feffkys'k iɪ kn मानविकी विद्यापीठ इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली
----------------------------------------------------------------------------------------	--------------------------------------------------------------------	----------------------------------------------------------------------

अगस्त, 2013

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2013

ISBN-

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिनियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली -110 068 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से निदेशक (मानविकी विद्यापीठ) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।
लेजर टाइप सेटिंग : राजश्री कम्प्यूटर्स, वी.166ए, भगवती विहार, उत्तम नगर, (नजदीक सेक्टर 2 द्वारका), नईदिल्ली-110059

मुद्रित

अस्मिता की दलित अवधारणा ने जिस संवेदनशीलता और तार्किकता से समग्र दलित जीवन सन्दर्भों को आत्मकथनों में अभिव्यक्त किया है वह हिंदी ही नहीं समस्त भारतीय साहित्य के लिए एक अनिवार्य संदर्भ है। सामाजिक संरचना, आर्थिक तंत्र प्रणाली के मुख्य औजार उत्पादन, व्यापार, बाजार जैसे विकास के साधन-संसाधनों पर साढ़े तीन हजार वर्षों से अधिक समय तक वर्ण-जाति-दास्य समर्थक ब्राह्मणवाद का वर्चस्व रहा। जिसके अत्यंत निर्मम, नृशंस, क्रूर हिंसात्मक व्यवहार से दलितों को अस्पृश्य करार देकर, सत्ता से विमुख, ज्ञान से वंचित, आर्थिक रूप से निर्भर पराश्रित जीवन जीने पर बाध्य कर दिया। मानव निर्मित विषमता को चिरस्थाई बनाने के लिए और उसे ईश्वर निर्मित होने का ढोंग रचकर, सैकड़ों संहिता, स्मृतियां, पुराण और धर्मग्रंथ लिखे गए। व्यवस्था का विरोध करने अथवा इसके खिलाफ विद्रोह करने के साहस की सजा मृत्यु दंड, देश निकाला और बहिष्कार थी। समस्त प्राकृतिक सम्पदाओं से वंचित इन आश्रित श्रमिकों की असंख्य पीड़ियों का जीवन अन्य तीन वर्णों की सेवा में ही नष्ट हो गई। वैदिकों की इस अमानवीय सोच को लोकायत, चार्वाक, बौद्धों, सिद्धों, नाथों और संतों ने ललकारते हुए प्रतिरोध की परंपरा स्थापित की, जो बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय के मानवतावादी लक्ष्य को बहुमूल्य मानती है। दलित साहित्य का उद्देश्य और लक्ष्य भी समतावादी समाज की स्थापना है, मनुष्य की स्वाधीनता, समता, भाईचारा तथा न्याय जैसे मानवीय मूल्यों में विश्वास रखने वाले रचनाकारों का यह कारवां बहिष्कृत बस्तियों से क्रांति का एलगार करते हुए निकल चुका है। आभिजात्यों के स्वांत सुखाय उद्देश्य से निर्मित सौन्दर्यशास्त्रीय मानदंडों को न केवल तोड़ा बल्कि जीवनवादी साहित्य सृजन द्वारा विश्व के वंचितों से नाता जोड़ा।

प्रस्तुत खंड की प्रथम इकाई में आप दलित आत्मकथन विधा के स्वरूप, रचना प्रक्रिया, वैचारिकी, निर्मिति तथा लक्ष्य और प्रभाव को समझ सकेंगे। मराठी में दलित आत्मकथनों ने जिस विद्रोही चेतना, अस्मिताबोध, इतिहास बोध और भविष्य दृष्टि दी है, उसी का विस्तार हिंदी के दलित आत्मकथनों में हम देखते हैं। इस खंड में आप दो आत्मकथनों का अध्ययन करेंगे, वे हैं – ओमप्रकाश वाल्मीकि का आत्मकथन 'जूठन' और मोहनदास नैमिशराय का 'अपने-अपने पिंजरे'। दलित आत्मकथनों को भारतीय साहित्य में ही नहीं अपितु विश्व साहित्य में प्रतिष्ठा प्राप्त है, जिसका कारण है इसमें अभिव्यक्त अनुभव विश्व, इसकी जीवनवादी सौन्दर्यानुभूति और अनोखी शैली। जीवन के त्रासद अनुभवों की अभिव्यक्ति की प्रेरणा और चेतना का स्रोत डॉ. आंबेडकर की वैचारिकी है, जिसका अंतिम लक्ष्य थोपी गई गुलामी से मुक्ति हासिल करने के लिए संघर्ष का रास्ता अपनाये। इसलिए आभिजात्य सौंदर्यशास्त्र के मानदंडों को सहजता से लाँघ कर दलित साहित्य के आशयजन्य अर्थवान सृजन से विश्व के वंचितों से नाता जोड़ते हैं।

आत्मकथन का प्रारम्भ मराठी साहित्य में वरिष्ठ लेखक दया पवार के आत्मकथन बलूत (1978) से हुई थी, जिसे पढ़कर आभिजात्य मराठी लेखकों को जोरदार झटका लगा था, क्योंकि इस अनोखे अनुभव विश्व की ना तों उन्हें पहचान थी और अगर होगी भी तों उसकी अनदेखी ही की थी। बहिष्कृत जीवन की वास्तविकता आभिजात्यों के लेखन का विषय ही नहीं था। अतरु अस्पृश्यता से अभिशप्त वेदना, व्यथा, दुःख, उत्पीड़न और आक्रोश स्पंदित होकर शब्द रूप ग्रहण नहीं कर सका। दलित लेखकों ने अपनी रचनाओं में यह प्रश्न बार-बार दोहराया है। गांव-देहात के दक्षिण में बसी बस्तियों में रहने वाले इंसानों से हर संभव परिश्रम के काम करवाने वाले उनसे कमतर इन्सानों जैसा बर्ताव क्यों करते हैं। बचपन से लेकर मृत्यु तक अवमानित होते जाति दंश झेलने की मजबूरी क्यों? दलित आत्मकथन जीवन के इसी सच को बेहद तल्खी के साथ उजागर करते हुए इसे बदलने के लिए कृत संकल्प है। मराठी में शंकर राव खरात के 'तराल-अंतराल', दया पवार के 'अछूत', शरण कुमार लिम्बाले के 'अक्करमाशी', 'लक्ष्मण गायकवाड़ के 'उठाईगीर' और बेबी ताई काम्बले के 'जीवन हमारा', कौसल्या बैसंत्री के 'दोहरा अभिशाप', उर्मिला पवार के 'आयदान', सुशीला टाकभौरे के 'शिकंजे का दर्द', आत्मकथनों में बहिष्कृत जीवन की निर्मम सच्चाइयां प्रामाणिकता के साथ अभिव्यक्त हुई। आभिजात्य साहित्य ने कुत्सित सोच के कारण इस वास्तविकता से समाज को रूबरू होने नहीं दिया था। अस्मिताबोधि चेतना साहित्य ने छिपाये गए सत्य को मुखर होकर अवगत करने का ऐतिहासिक कार्य किया। दलित जीवन के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षिक तथा सांस्कृतिक संदर्भों से

जुड़े तमाम, उत्पीड़न, अवमानना, बहिष्कार, तकलीफें, संत्रास, वंचना की सब सच्चाइयों को बेलाग होकर शब्दबद्ध करते हैं। दलित आत्मकथन किसी की सहानुभूति हासिल करने के लिए नहीं बल्कि रचनात्मक अभिव्यक्ति द्वारा ब्राह्मणवाद के षडयंत्र से हमें अवगत करते हैं। सदियों से हाशिए पर रहें इन्सान ने अपने दारुण अनुभवों को सृजनात्मक रूप में समाज के सामने रख कर साहित्य, समाज और संस्कृति को आइना दिखा दिया है। मानवता को शर्मसार करने वाली नीति, धर्म परम्परा, पूर्वजन्म, कर्मवाद, भाग्यवाद तथा आत्मा के पुनर्जन्म जैसी अतार्किक और मिथ्या विचारधारा को बेनकाब किया है। समताधिष्ठित समाज की निर्मिति आत्मकथन लेखन का महती उद्देश्य रहा है, क्योंकि अस्मिताबोध से संपन्न व्यक्ति गुलामी और अपमानित जीवन से न केवल असहमत होता है बल्कि ऐसी समाज संरचना का प्रखर विरोध भी करता है। प्रस्तुत खंड में शामिल 'जूठन' तथा 'अपने-अपने पिंजरे' का पाठावलोकन करने पर आप स्वयं ही इस तथ्य से अवगत हो जायेंगे की ज्ञान से वंचित हाशिए के समूह के ज्ञानार्जन की प्रक्रिया की स्वाभाविक फलश्रुति अस्मिताबोधि सृजन में इतनी प्रखर क्यों कर हुई। रचनात्मकता के क्षेत्र में दलित रचनाकार का प्रवेश किन स्थितियों में हुआ इसे जानना आपके लिए अत्यंत जरूरी है।

मराठी साहित्य में दलित साहित्य का आगमन मुक्ति चेतना के लोमहर्षक संघर्ष की फलश्रुति स्वरूप हुआ था लेकिन मराठी के लगभग बीस वर्षों के बाद हिंदी दलित धारा के आगमन से हिंदी साहित्य में हलचल मच गई है। आभिजात्य साहित्यकारों-आलोचकों ने हाशिए के जीवनवादी साहित्य सृजनात्मकता का स्वागत नहीं किया जैसा कि मराठी के प्रगतिशील आलोचकों और रचनाकारों द्वारा किया गया था। अनुभूति की ऐसी जीवंत अभिव्यक्ति पहले कभी रचना के क्षेत्र में देखी नहीं गई थी, हीरा डोम की कविता के सिवाय दलित साहित्य के आगमन तक हिंदी साहित्य दलित जीवन की सच्चाई से परिचित नहीं था। इसका कारण हमें नवजागरण काल में सामाजिक-आर्थिक सुधारों के प्रति अवहेलना में खोजना जरूरी है। इस काल में के साहित्य का अवलोकन करने से खुद-ब-खुद इसकी सच्चाई हमारे सामने खुलती जायेगी। जातिवादी सामाजिक संरचना के उत्पीड़क चरित्र की आभिजात्य साहित्यकारों ने अलख नहीं जगाया, बल्कि सामंतवादी उत्पीड़क संरचना को गौरवान्वित करने और रोमानी बोध का ही बखान करते रहे। मनोरंजन पर और अतितोन्मुखी रचनायें हाशिए के प्रति असंवेदनशील और वास्तविकता से आंखे चुराने में ही मग्न थी।

आधुनिक काल में प्रेमचंद ने दलित जीवन की सच्चाई को पारदर्शी बनाने की कोशिश की और बहुत सार्थक रचनाये भी लिखी लेकिन उनकी प्रगतिशील विचार परंपरा विकसित नहीं हो पाई। स्वतंत्रता के लगभग पच्चीस वर्षों बाद दलित चेतना ने सृजनात्मक अभिव्यक्ति द्वारा प्रतिरोध दर्ज करना आरम्भ किया। आजादी हासिल होने पर भी दलितों की सामाजिक, आर्थिक स्थिति अत्यंत दयनीय बनी रही, सवर्णों द्वारा उत्पीड़न, जाति का तिरस्कार और गुलाम जैसी स्थिति में लेशमात्र बदलाव नहीं हुआ नृशंस शोषण परंपरा का हिंसात्मक चरित्र नहीं बदला, आर्थिक उत्पादन के साधन, उद्योग, जमीन और अन्य ससाधनों पर सवर्णों का ही अधिकार रहा।

स्वाधीनता के बाद जन्मी और अब युवा हो चुकी दलित पीढ़ी कदम-कदम पर तिरस्त होकर लाचारी गरीबी से मुक्ति चाहती थी, जाति तिरस्कार, बहिष्कार, उत्पीड़न का सिलसिला आजादी के पहले जैसा था वैसा ही जारी था। शिक्षित दलित युवा बेरोजगारी से जूझ रहा था, क्योंकि वर्चस्ववादी वर्ग आरक्षण नीति को लागू न करने में कामयाब था। आजाद भारत के समता और न्याय मूल्यों की ऐसी अनदेखी देश को शर्मसार किये थी। युवाओं ने देखे मुक्ति और प्रगति के सपने चूर-चूर होकर बिखर गए थे। स्वतंत्र भारत के दलित युवाओं ने अन्यायपूर्ण व्यवस्था का प्रखर प्रतिरोध नकार और विद्रोह दर्शाने हेतु दलित पैथर्स संगठन की स्थापना की। मुंबई, औरंगाबाद और नागपुर शहर इस आन्दोलनधर्मी संगठन के मुख्य केन्द्र बने। दलित पैथर्स का सपना था की डॉ. आंबेडकर की वैचारिकी को साकार रूप दे सकें, वे सभी रचनाकार, चिन्तक और बुद्धिजीवी समतामूलक समाज निर्माण के लिए प्रतिबद्ध थे। दलित साहित्य के प्रखर प्रवक्ताओं की रचनाओं ने भारतीय भाषाओं के साहित्य में इतिहास रचा जिसने सामाजिक न्याय और समता के मूल्यवत्ता को केंद्र में रखकर मनुष्य की स्वाधीनता को नया अर्थ दिया।

प्रस्तुत पाठ्यक्रम में आप दलित साहित्य के उदय और रचनात्मक विकास का विस्तार से परिचय प्राप्त करेंगे।

bdkbz 16 nfyv vkRedFkk dh fo'ks'krk % I kekftd-I kL-frd i fj fLFkfr; ksd: nLrkost.

bdkbz dh : i js[kk

- 16.0 उद्देश्य
- 16.1 प्रस्तावना
- 16.2 सामाजिक परिस्थिति
 - 16.2.1 दलित जीवन के विविध रूप
 - 16.2.2 जाति केन्द्रित गाँवों की बनावट
 - 16.2.3 सामाजिक उत्पीड़न की प्रकृति
- 16.3 धार्मिक परिस्थिति
 - 16.3.1 धार्मिक विश्वास के स्थानीय रूप
 - 16.3.2 वर्णवादी धार्मिकता का यथार्थ
 - 16.3.3 क्रांतिकारी नव जागृति : बौद्ध मत की ओर
- 16.4 शैक्षिक परिस्थिति
 - 16.4.1 ज्ञानार्जन के पारंपरिक रूप
 - 16.4.2 शिक्षा और दलित : रुकावटों से टकराती नई ऊर्जा
- 16.5 राजनीतिक परिस्थिति
- 16.6 दलित स्त्री आत्मकथा का वैशिष्ट्य
 - 16.6.1 दलित स्त्री की जिंदगी का सच
 - 16.6.2 दलित स्त्री का प्रतिरोध
- 16.7 सारांश

16-0 m1s ;

दलित आत्मकथन दलित आंदोलन और लेखन की उपज हैं। ये आत्मकथन इस आंदोलनधर्मी लेखन के बहुमूल्य हिस्से हैं। इन्हें दलित जिंदगी का दस्तावेज़ कहा जाना चाहिए। हालाँकि यह कथन एक अर्थ में अधूरा है। दलित आत्मकथन वस्तुतः सम्पूर्ण भारतीय समाज के दस्तावेज़ हैं। इन आत्मकथनों का साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन तो ज़रूरी है ही लेकिन उससे कहीं ज़्यादा ज़रूरी है इनका समाजशास्त्रीय अध्ययन। सामाजिक वास्तविकता के विविध पहलू इन आत्मकथनों में दर्ज़ हैं। इस इकाई के अध्ययन से मोटे तौर पर निम्न उद्देश्यों की पूर्ति हो सकेगी :

- दलित आत्मकथन विधा का स्वरूप;
- भारतीय सामाजिक संरचना में दलित जीवन;
- आत्मकथनों में अंकित सामाजिक उत्पीड़न के विविध रूप;
- सामुदायिकता की जकड़बंदी और व्यक्ति के निर्माण की परिस्थितियाँ;

- दलित धार्मिकता का अर्थ;
- वर्णवादी धार्मिकता के छल;
- बौद्ध मत और दलित समुदाय;
- दलितों की शैक्षिक परिस्थिति;
- शिक्षा के लिए दलितों के संघर्ष की बानगियाँ;
- शैक्षिक संस्थानों का जातिवादी रूप;
- राजनीतिक परिस्थिति और दलित;
- राजनीतिक परिदृश्य में दलितों की उपस्थिति का अर्थ;
- दलितों की आर्थिक स्थिति;
- दलित आत्मकथनों में दर्ज भूख और दरिद्रता के अनुभव;
- बदलता आर्थिक परिदृश्य;
- दलित स्त्री आत्मकथनों का वैशिष्ट्य;
- सामाजिक-सांस्कृतिक वास्तविकताओं के दस्तावेजीकरण में आत्मकथनों की भूमिका का मूल्यांकन; और
- दलित आत्मकथनों से अपेक्षाएँ : भविष्य-दृष्टि का सवाल।

इन बिन्दुओं के अतिरिक्त इस इकाई में हम प्रसंगत: कुछ अन्य बिन्दुओं से भी अवगत होंगे जैसे दलित भाषा का स्वरूप, आत्मकथन विधा के नामों को लेकर हुई बहस, सपाट यथार्थ की जगह संश्लिष्ट यथार्थ की ओर झुकाव, नए आत्मकथनों का दौर आदि।

16-1 आत्मकथन

दलित लेखन की सबसे चर्चित विधा आत्मकथन है। इसकी शुरुआत डॉ. भीमराव आंबेडकर के आत्मकथन 'मेरा जीवन' से मानी जा सकती है। यह आत्मकथन 'जनता' पत्र के 6 नवंबर, 1954 अंक में छपा था। इसमें डॉ. आंबेडकर ने 'मेरा जीवन' नाम से एक सम्पूर्ण आत्मवृत्त लिखने की योजना का जिक्र किया था। उनके ही शब्दों में, "सभी स्मृतियों को समेटकर एक आत्मकथा लिखने का मेरा विचार है। समग्र आत्मकथा न लिखूँ तो कम से कम 'मेरा बचपन' नाम से एक पुस्तक जरूर लिखूँगा।" (देखें, 'अपेक्षा' पत्रिका के जुलाई-सितम्बर, 2003, दलित आत्मवृत्त विशेषांक में प्रकाशित 'मेरा बचपन' शीर्षक आत्मकथन।) 1956 में डॉ. आंबेडकर की मृत्यु हो जाने के कारण आत्मकथा लिखने की उनकी योजना साकार न हो पायी। आंबेडकरी चेतना के साथ लिखी गई शुरुआती आत्मकथाओं में शंकर राव खरात की 'तराल-अंतराल' (1976), दया पवार की 'बलूत' (1978), माधव कोंडविलकर की 'मुक्काम पोस्ट देवाचे गोठणे' (1979) के नाम लिए जा सकते हैं। लेकिन किसी दलित के पहले आत्मकथन के रूप में नाम लेना हो तो हजारी द्वारा लिखित 'आइ वाज़ एन आउटकास्ट इण्डियन' (1951) को रखा जा सकता है।

दलित आत्मकथन गैर-दलित आत्मकथन से भिन्न होते हैं। यह भिन्नता उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि के कारण है। अपनी उपलब्धियों का आकलन करने के लिए जीवन के अंतिम दौर में आत्मकथाएँ लिखी जाती रही हैं लेकिन दलित आत्मकथन अपने समुदाय की वेदना की अभिव्यक्तियाँ हैं। इन्हें लिखने के लिए दलित लेखक अपने बूढ़े होने का इंतज़ार नहीं करता। वह वर्ण व्यवस्था द्वारा थोपी गई दम घोटू मर्यादाओं में जीते अपने

समुदाय की व्यथा-कथा लिखता है। इस व्यथा का इतिहास शताब्दियों का है। दलित लेखक को जो सामुदायिक स्मृति मिली है वह भी शताब्दियों की है। ऐसे आत्मकथनों में 'व्यक्ति' महत्वपूर्ण नहीं होता। संघर्ष का इतिहास, उत्पीड़न की परंपरा, जीवन-स्थितियों का ब्यौरा ही महत्वपूर्ण होता है। क्योंकि यह सब एक व्यक्ति (लेखक/लेखिका) द्वारा कलमबद्ध होता है इसलिए उसको निजी जिंदगी, उसका व्यक्तित्व भी निर्णायक भूमिका में आ जाते हैं। स्वयं चेतना सम्पन्न होने के बाद वह उस परिवर्तनकारी चेतना का प्रसार-विस्तार करना चाहता है और इसी क्रम में उसका आत्मकथन रचा जाता है।

जाहिर है कि दलित आत्मकथन का वैशिष्ट्य उसके अर्न्तवस्तु के कारण है। यही वजह है कि कई चिंतकों ने इस विधा के नाम पर पुनर्विचार किया और पहले से प्रचलित नाम 'आत्मकथा' के प्रयोग पर अपनी आपत्ति दर्ज की। ऐसे विचारकों में मराठी के वरिष्ठ चिंतक व आंबेडकरवादी रचनाकार यशवंत मनोहर हैं। उनके शब्दों में, 'आत्म' शब्द अपने साथ कर्म सिद्धांत लेकर आता है। कर्म सिद्धांत का संबंध वर्ण व्यवस्था के साथ है। यहाँ की संस्कृति ने आत्म की अवधारणा द्वारा शोषण का ऐसा विलक्षण दर्शन, विषमता का जहरीला विचार-व्यूह प्रस्तुत किया है, जो विश्व के किसी भी देश या समाज में नहीं है। दलितों के शोषण की केन्द्रवर्ती आधारशिला ही यह 'आत्मा' शब्द है। इस शब्द का प्रयोग दलितों के स्वकथन के साथ लगाना वास्तव में उनकी नास्तिक (बौद्ध) प्रेरणाओं का मजाक उड़ाना है। इस कारण दलितों के अनुभव कथन पर लेखक के लिए 'स्वकथन' शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए।" (दलित साहित्य : स्वरूप और संवेदना, (2009) सूर्य नारायण रणसुभे द्वारा उद्धृत, 'मराठी की दलित आत्मकथा या 'स्वकथन' शीर्षक अध्याय से)। यशवंत मनोहर के इस प्रस्ताव से असहमति जाहिर करते हुए मराठी के ही दूसरे लेखक आनंद साधले ने कहा कि आत्मकथा में आया 'आत्म' शब्द का 'आत्मा' से कोई संबंध नहीं है। यह 'स्व' अथवा 'लेखकीय व्यक्तित्व' के अर्थ में प्रयुक्त है। (देखें, सूर्य नारायण रणसुभे, उपर्युक्त)। एक बहस 'कथा' शब्द को लेकर भी उठाई गई। 'कथा' काल्पनिक होती है, रंजनार्थ होती है जबकि दलित जीवन में यथार्थ और वेदना मुख्य है। इसलिए, कथा के स्थान पर कथन शब्द के इस्तेमाल का आग्रह हुआ। मराठी दलित आलोचना में अब 'आत्मकथा' विधा को 'स्वकथन', 'स्ववृत्त', 'आत्मवृत्त', 'आंबेडकरवादी आत्मकथन' आदि कहा जाता है। इस शब्द-सजगता का प्रभाव अन्य भाषाओं के दलित साहित्य पर भी पड़ा। हिन्दी में ओमप्रकाश वाल्मीकि जैसे दलित चिंतक 'आत्मकथा' नाम को लेकर किसी बहस के पक्ष में नहीं हैं। वे तरह-तरह के विकल्पों के प्रयोग में मुख्य बहस से भटक जाने का खतरा देखते हैं। 'आत्मकथा' के प्रयोग में कोई दिक्कत नहीं, बशर्ते कृति में निहित आंबेडकरी चेतना बनी रहे।

प्रसंगवश यह भी याद कर लिया जाए कि मराठी से अनुदित कई दलित आत्मकथनों को हिन्दी प्रकाशकों ने 'आत्मकथात्मक उपन्यास' बताते हुए छापा। उन्होंने किस मंशा से दलित जीवन के असल वृत्तांत को उपन्यास कहा, स्पष्ट नहीं। 'अछूत' (दया पवार), 'यादों के पंछी' (प्रा. ई. सोनकांबले) और 'अक्करमाशी' (शरण कुमार लिम्बाले) आदि के आत्मकथनों को 'आत्मकथात्मक उपन्यास' लिखने के बावजूद पाठकों ने उन्हें उपन्यास नहीं माना इसलिए परवर्ती आत्मकथनों को उपन्यास कहने की प्रवृत्ति पर रोक लग गई।

दलित आत्मकथनों की रचना-प्रक्रिया को समझने के लिए कुछ बुनियादी बातों की चर्चा ज़रूरी है। इनमें से तीन मुख्य बिन्दु हैं:

- 1) विद्रोही चेतना,
- 2) इतिहास बोध, और
- 3) भविष्य-दृष्टि।

किसी भी आंबेडकरवादी आत्मकथन की निर्मिति, लक्ष्य और प्रभाव इन तीनों बिन्दुओं से अनिवार्यतः जुड़ा होता है। रचनाकार की विद्रोही चेतना इन तीन चीजों से मिलकर बनती है :

- 1) मेरे पूरे समुदाय का दुख मेरा दुख है और मेरा दुख सिर्फ मेरा नहीं है।
- 2) यह दुख वर्ण-जातिवादी समाज-व्यवस्था की देन है।
- 3) मैं इस व्यवस्था को सिरे से अस्वीकार करता/करती हूँ और प्रयत्नशील हूँ कि पूरा समाज या कम से कम मेरा समुदाय ऐसा ही करे।

आंबेडकरवादी लेखक/लेखिका इतिहास बोध से कभी विच्छिन्न नहीं होता/होती। उसके इतिहास-बोध का आशय है :

- 1) वर्चस्व का कोई दैवी आधार नहीं होता। सनातनता, दैवीयता और ईश्वरवाद प्रभुत्व को कायम रखने की तरकीबें हैं।
- 2) मनुष्य के विकास-क्रम को वैज्ञानिक दृष्टि से परखा जाना और
- 3) शोषण और उत्पीड़न के सभी रूपों का संज्ञान – इसमें विकास, विस्थापन और शासन से जुड़े मुद्दों के साथ आंतरिक जातिवाद तथा पितृसत्ता के मुद्दे विशेष रूप से शामिल हैं।

भविष्य-दृष्टि के अंतर्गत निम्न बिन्दु विचारणीय हैं:

- 1) वैकल्पिक समाज की संभावना में यकीन। प्रतिरोध की संस्कृति से सम्बद्धता।
- 2) समता, स्वतंत्रता, न्याय और बंधुत्व जैसे मूल्यों में विश्वास।
- 3) दलित अस्मिता के लिए संघर्ष लेकिन इस अस्मिता को ही अंतिम न मानकर संपूर्ण मनुष्यता की बेहतरी का लक्ष्य।

पारंपरिक साहित्य विमर्श में आत्मकथा विधा को कभी महत्व नहीं दिया गया। भारत में इस विधा की पहली कृति बनारसीदास जैन कृत 'अर्धकथा' (1640) मानी जाती है। इसके बाद एक लंबे अरसे तक कोई आत्मकथा नहीं लिखी गयी। आधुनिक काल में आकर इस विधा को कुछेक लेखकों तथा जन नायकों द्वारा अपनाया गया लेकिन छिटपुट रूप में ही। तमाम गद्य विधाओं के बीच इसे दलित विमर्श और स्त्री विमर्श के उभार के बाद ही प्रतिष्ठा मिली।

16-2 | केफ्टद i fjLFkfr

भारतीय साहित्य विमर्श खासकर संस्कृति साहित्यशास्त्र में गद्य लेखन को दो रूपों में बाँटा गया – कथा और आख्यायिका। कथा की निर्मिति कल्पना के सहारे होती है और आख्यायिका ऐतिहासिक चरित्रों पर लिखी जाती है। बाणभट्ट की दो रचनाओं से इनके उदाहरण दिए जाते रहे हैं – 'कादंबरी' कथा है और 'हर्ष चरित' आख्यायिका। बाणभट्ट सम्राट हर्षवर्द्धन (शासनकाल 606-647) के दरबार में थे। 'हर्ष चरित' में बाण ने सम्राट की जिंदगी को शब्दबद्ध करने के साथ स्ववृत्त भी लिखा है। शुरु के तीन अध्यायों में, भारत में आत्मकथा लेखन का यह पहला प्रयास मानना चाहिए। साहस का परिचय देते हुए बाण ने लिखा है कि उनके पिता की एक शुद्रा पत्नी भी थी जिनसे दो पुत्र हुए थे। तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति की यह एक तस्वीर है। लेकिन, सच तो यह है कि संस्कृति के साथ अन्य भारतीय भाषाओं में भी लेखकों ने अपनी जिंदगी का सच सीधे-

सीधे लगभग नहीं लिखा है। जो सच हमें मिलता है वह एकांगी है। साहित्य को समाज का दर्पण भले ही कहा जाता रहा हो मगर इस दर्पण का आयतन इतना छोटा, इतना चयनधर्मी रहा कि उसमें दलित समाज कहीं दिखता ही नहीं।

nfyv vkRedFkk dh fo'ks'krk
I kekftd&l kL.Nfrd
i fjfLFkfr; ka ds nLrkost

जब दलित लेखकों ने आत्मकथन लिखने की शुरुआत की तो इस दर्पण का दायरा ही नहीं बढ़ा, साहित्य की प्रकृति, वाङ्मय-विमर्श का स्वभाव भी बदल गया। भूख, गरीबी और अछूतपन में डूबी जिंदगी जब सीधे तौर पर आत्मकथन के रूप में आई तो पारंपरिक साहित्य के अभ्यासी व पाठक हतप्रभ रह गए और आलोचक हक्के-बक्के। इस 'साहित्य' के प्रति उदासीनता, उपेक्षा और अस्वीकार का रवैया अपनाकर इसे दबाने की कोशिश भी की गई मगर शताब्दियों से बाहर आने को बेचैन सच को रोका न जा सका।

16-2-1 nfyv thov dsfofoek : i

दलित जातियों की संख्या कम नहीं है। इनकी उपजातियाँ तो अनगिनत हैं। उनकी जीवन-स्थितियों में एक स्तर पर समानता है तो दूसरे स्तर पर अत्यधिक भिन्नता भी है। जाति का ढाँचा ऐसा कि एक जाति दूसरी जाति से अजनबी बनी रहती है। 'उपरा' आत्मकथन के लेखक लक्ष्मण माने का कहना है, "हमारे समाज में एक जाति के दुखों का पता दूसरी जाति को नहीं होता। संवेदना का आदान-प्रदान भी यहाँ नहीं हुआ है। साढ़े तीन प्रतिशत लोगों द्वारा लिखे गए साहित्य में समाज के दुर्बल वर्ग का चित्रण ही नहीं हुआ है।" ('यादों के पंछी' में अनुवादक द्वारा लिखी भूमिका से उद्धृत)।

दलित लेखकों के शताधिक आत्मकथन पूर्ण या आंशिक रूप से अभी तक प्रकाशित हो चुके हैं लेकिन कोई भी दो आत्मकथन एक जैसे नहीं हैं। ये आत्मकथन वस्तुतः एक-एक समुदाय की कहानी बयान करते हैं और इतने समुदायों की वास्तविकता सामने आने के बावजूद यह नहीं कहा जा सकता कि साहित्य में सभी दलित समुदायों का प्रतिनिधित्व हो चुका है। अभी कितने बहिष्कृत इलाके और कितने दलित समुदाय हैं जिनकी आवाज़ साहित्य में दर्ज ही नहीं हुई है।

बहरहाल जिन आत्मकथनों से दलितों के समुदाय-विशेष साहित्य जगत में प्रवेश पा सके हैं उनमें कुछ की सूची इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है :

- 1) महार समुदाय – 'तराल-अंतराल', 'यादों के पंछी', 'जीवन हमारा' और 'अछूत' आदि।
- 2) जाटव या चमार – 'मुक्काम पोस्ट – देवाचे गोहणे', 'अपने-अपने पिंजरे', 'झोपड़ी से राजभवन' आदि।
- 3) वाल्मीकि या भंगी – 'जूठन', 'तिरस्कृत', 'शिकंजे का दर्द', आदि
- 4) दबंगों की (दलित) रखैल से उत्पन्न संतान – 'अक्कर माशी',
- 5) विमुक्त जाति – 'पराया', 'उचक्का', 'बेडर' आदि।
- 6) कोल्हाटी (नाचने गाने वाला समुदाय) – 'छोरा कोल्हाटी का'
- 7) बंजारा – 'तांडा', 'डेरा डंगर',
- 8) मातंग जाति – काटयावरची पोट'
- 9) पोतराज – 'आभरान'
- 10) दलित ईसाई – 'ख्रिस्ती महार', 'करक्कु'
- 11) पंजाबी रामदसिया दलित – 'छांग्या रूक्ख'
- 12) दलित स्त्री – 'दोहरा अभिशाप', 'आयदान' 'शिकंजे का दर्द' आदि।

जाति आधारिक सामाजिक संरचना में जातियों की सांस्कृतिक हैसियत के अनुसार उनकी बसावट तय होती है। एक पारंपरिक गाँव में सवर्ण जातियाँ गाँव के बीचों-बीच, मध्यम जातियाँ थोड़ा बाहर की तरफ तथा दलित बस्ती गाँव के हाशिये पर प्रायः दक्षिण दिशा में हुआ करती हैं। दलित बस्ती की तरफ सामूहिक कब्रिस्तान, कूड़ा-कर्कट फेंकने की जगह-घूर और मृत पशुओं की खाल उतारने की जगह होती है। गैर-दलितों के घर प्रायः पक्के या खपरैल हुआ करते हैं जबकि दलितों की छोटी-छोटी झोपड़ियाँ। अपने गाँव (अकोला तालुका का घामण गाँव) का लोकेशन बताते हुए दया पवार ने 'अछूत' में लिखा है, "एक टीले पर महारवाड़ा। गाँव के निचले हिस्से पर। ऐसा कहते हैं कि हवा और नदी का पानी उच्च जातियों को शुद्ध मिले इसलिए गाँवों की रचना प्राचीन काल से इसी तरह की गई। सबके घरों के दरवाजे गाँव के विरुद्ध दिशा में।" (पृ. 32) 'माझी जन्माची चित्रकथा' में शांताकृष्ण कांबले लिखती हैं, "महारों के घर बहुत छोटे-छोटे थे इसलिए सभी सामूहिक दालान में एक साथ सोते थे।" (इस आत्मकथा का हिन्दी अनुवाद 'नाज़' शीर्षक से छपा है। विस्तृत विवरण के लिए संदर्भ सूची देखें। यहाँ उद्धृत पंक्ति पृष्ठ 10 पर है।) अपने घर का वर्णन करते हुए शंकर राव खरात लिखते हैं, "घर के पिछवाड़े की भीत ऊँची थी और आगे की भीत एकदम छोटी, बौनी थी। हमारे माँ-बाप और बड़ी बहन से इस छोटी दीवाल की बगल में सीधे खड़ा नहीं हुआ जाता था। इस ओर के सारे काम झुककर ही करने पड़ते थे। हमारे घर की चौखट में किवाड़ों का दरवाजा नहीं था। कुत्ता-बिल्ली से बचाव के लिए अन्ना ने एक टटिया का ढक्कन बना लिया था।" ('तराल-अंतराल', पृ. 13)। प्र.ई. सोनकांबले ने दलित मुहल्ले को गाँव के मानचित्र में दर्शाते हुए कहा, "गाँव के अंतिम छोर पर दलितों की बस्तियाँ होती हैं। हडोलती भी इसका अपवाद नहीं था। पहले महारों की बस्ती उसके पीछे मातंगों की" ('यादों के पंछी', पृ. 34) बलबीर माधोपुरी अपने गाँव माधोपुर (जालंधर, पंजाब) की बसावट का वर्णन करते हुए बताते हैं: "गाँव देखने को हालाँकि इकट्ठा है, पर पीने के पानी के लिए कुआँ अपना-अपना है (छांग्या रूक्ख', पृ. 22)। माधोपुर गाँव बाद में बसा हुआ 'गैर-पारंपरिक' गाँव है लेकिन जातिगत पूर्वग्रहों से मुक्त नहीं। पंजाब के बारे में आम धारणा यह रही है कि वह अपेक्षाकृत प्रगतिशील सूबा है लेकिन दलित लेखकों ने इसकी असलियत पर पुनर्विचार के लिए बाध्य किया। पंजाब के गाँवों में जातिवाद की व्याप्ति पर जगदीश चंद्र का उपन्यास 'धरती धन न अपना' भी देखा जा सकता है।

16-2-3 I keftd mRi hMu dh A-fr

जातिवादी सामाजिक संरचना ने उत्पीड़न के अनगिनत तरीके ईजाद किए हैं। साहित्य में पहले इन तरीकों की अभिव्यक्ति अत्यल्प रही है। सवर्ण नजरिये से देखा गया गाँव उत्पीड़न की मौजूदगी को स्वाभाविक रूप से नजर अंदाज करता रहा है। 'बाबा अब न बसब यहि गाँव' कहकर कबीर ने गाँव की जिस वास्तविकता का संकेत किया था, परवर्ती साहित्य में उस वास्तविकता के विवरण नहीं दिखे। आधुनिक काल में प्रेमचंद ने तथा दूसरे प्रगतिवादी कथाकारों ने गाँव में मौजूद उत्पीड़न के चित्र दिए। लेकिन ये चित्र सीधे अनुभव से प्राप्त नहीं थे। साहित्य के समूचे इतिहास में दलित आत्मकथनों ने दलित बस्ती का प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत किया। यह एक उल्लेखनीय परिघटना थी। मोटे तौर पर इसके पाँच परिणाम दिखाई पड़े :

- 1) साहित्य में दलित जीवनानुभवों का पहली बार दस्तावेजीकरण शुरू हुआ।
- 2) दलित बस्ती का कटु यथार्थ गाँव के पारंपरिक रोमानी बोध का तोड़ने में सक्षम हुआ।

- 3) साहित्य को नई भाषा, नए मुहावरे, नए वाक्य विन्यास मिले। नया यथार्थ पुरानी शब्दावली में व्यक्त नहीं हो सकता था।
- 4) अनुभवाधारित लेखन को जाँचने के लिए नए प्रतिमानों की ज़रूरत महसूस की जाने लगी। नए सौंदर्यशास्त्र के निर्माण की संभावना बननी शुरू हुई।
- 5) साहित्य और समाज के बीच की दूरी क्रमशः मिटने लगी। साहित्य बदलते समाज का आइना बना और साथ ही उसने समाज को बदलने में अपनी भूमिका का नया दौर आरंभ किया।

भारतीय भाषाओं में दलित साहित्य के विकासक्रम को सहूलियत के लिए पाँच चरणों में बाँटा जा सकता है – वेदना, नकार, विद्रोह, विश्लेषण और विज़न। पहले चरण में दलित समाज की वेदना का चित्रण हुआ और उस वेदना को जन्म देने वाली परिस्थिति विशेषकर उत्पीड़न की। दूसरे दौर में दुःखदायी व्यवस्था को नकारा गया। इसके बाद इस व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह का स्वर बुलंद हुआ। अगले चरण में यह चिंतन प्रमुख हुआ कि हमारी स्थिति ऐसी हुई क्यों। इस क्यों का विश्लेषण करते हुए पाँचवें और वर्तमान दौर में विज़न निर्माण पर विशेष बल दिया जाने लगा है। भविष्य का समाज कैसा हो, यह इस वक्त प्रतिरोधी दलित साहित्य के लिए केन्द्रीय प्रश्न है। दलित आत्मकथनों ने शुरू के तीन चरणों में अपनी विशेष भूमिका निभाई। अंतिम दो चरणों में अन्य विधाओं – कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना और चिंतनपरक गद्य की भूमिका ज़्यादा महत्वपूर्ण हो गई है।

उत्पीड़न के स्वरूप की बात करें तो दलित आत्मकथनों में भौतिक, मानसिक और मिश्रित तीनों तरह के उत्पीड़न दर्ज हैं। दलित बस्ती पर हमला, पिटाई, आगजनी, आर्थिक दण्ड आदि भौतिक या शारीरिक उत्पीड़न हैं और तिरस्कार, अपमान, दुर्वचन मानसिक संत्रास देता है। स्त्रियों का बलात्कार शोषण देह और मन दोनों को घायल करता है। दलितों को जूते पहनने पर प्रतिबंध, नए कपड़े पहनने पर रोक, बसीठों के पास से गुजरने पर चारपाई से उठ जाने की मजबूरी, विवाह-शादी में घोड़ी पर बैठने पर पाबंदी जैसे मानसिक उत्पीड़न के अनगिनत प्रसंग इन आत्मकथनों में दर्ज हैं। 'छाया रूख' का एक उदाहरण देखें: "अगर अछूतों का कोई लड़का नहा-धोकर और बाल संवार कर घर से बाहर निकलता तो दरख्त के नीचे या चबूतरे पर बैठी जट्टों की ढाणी में से कोई एक उठकर उसके सिर में मिट्टी डाल देता। अगर वह विरोध करता तो उसकी धुनाई की जाती। इसी तरह अछूत जाति के किसी आदमी द्वारा नए कपड़े पहनकर निकलने पर उसे मारा-पीटा जाता कि तुम लोग हमारी नकल या बराबरी करते हो" (पृ. 22)। माता-पिता ने अपने बच्चों के नाम कितने ही प्यार से क्यों न रखे हों, सवर्ण जाति के लोग उसे बिगाड़कर ही बोलते रहे हैं। उदाहरण के लिए देखें 'तिरस्कृत' का यह प्रसंग: – "मेरे भूपसिंह चाचा को 'भोपा', स्वरूप सिंह ताऊ को 'सरूपा', मेरी चाची राधा देवी को 'रधिया' और किरन को 'किन्नो'। और तो और मेरे पिता रोहनलाल को 'रोना' कहकर पुकारना।" (पृ. 38) 'माज्या जन्माची चित्तर कथा' में एक प्रसंग है महार शादी के बाद दुल्हन को बैलगाड़ी पर बैठाकर ला रहे हैं। रास्ते में बलबड़ी गाँव के पाटिल ने गाड़ी रोक दी। बातचीत के लिए उस गाँव का एक महार व्यक्ति आनंद आया तो पाटिल बोला, "महार अब ज़्यादा ही सिर चढ़ गए हैं। यहाँ से जाते हुए हमें प्रणाम नहीं किया इसलिए गाड़ी रोक दी।" (पृ. 34-35)। 'तराल-अंतराल' में जब महारों ने मरे जानवर का माँस न खाने और उन्हें अपने कंधे पर न लादने का फैसला किया तो पूरे गाँव में खलबली मच गई। दलितों का बहिष्कार कर दिया गया। शंकरराव खरात लिखते हैं "गाँव ने महारों के लिए दुकानें बंद कर दीं। उन्हें नमक तेल आदि खरीदने के अधिकार से अलग कर दिया। गाँव के चरागाह से उनके पशु-ढोर हकाल दिये; उन्हें रोज़गार, मेहनत-मजदूरी

का काम देना बंद कर दिया। अब वे कैसे जियें?" (पृ. 234)। शंकरराव खरात बड़ा मार्मिक प्रश्न पूछते हैं: "कोई भी आदमी अपनी गुलामी से मुक्ति चाहता हो तो इसमें क्या पाप है?" (पृ. 233)।

दलित समुदाय को निरंतर आतंक के साये में रहना पड़ता है। दबंगों को हमले का बहानाभट चाहिए। वे 'सबक सिखाने' के लिए हमेशा तैयार रहते हैं। ऐसी एक घटना 'अक्करमाशी' में दर्ज है : "किसी दलित युवक ने सवर्ण स्त्री की ओर तिरछी नज़र से देखा था। उस स्त्री ने घर जाकर यह कह दिया। सवर्ण स्त्री की ओर आँख उठाकर देखने की हिम्मत दलित करें! पूरा गाँव इकट्ठा हुआ। बस्ती पर धावा बोल दिया गया। उस युवक को खींच बाहर लाया गया। बेतहाशा पीटा गया। कुछ ही दिनों बाद बस्ती के सभी दलित युवकों पर झूठे अदालती केस किए गए। अंततः उन युवकों को एक-एक साल की सजा हुई। सजा भुगतकर वे अपने गाँव आए तो उनमें से प्रत्येक की पत्नी को एक-एक संतति हो चुकी थी।" (पृ. 120) उत्पीड़न का ऐसा सिलसिला सिर्फ महाराष्ट्र में ही नहीं पूरे देश में है। 'छांग्या रुक्ख' के लेखक ने अपने बापू और पूर्वी उत्तर प्रदेश के एक दलित के बीच हुई बातचीत आत्मकथन में नोट की है। इसका एक अंश देखें: "पलभर की खामोशी के बाद बापू ने फिर बात शुरू की, "यार, कभी-कभी तो मैं सोचता हूँ कि इस मुल्क में हमारा है क्या? ... तू और सुन, तीसरे दिन जरीब-झंडियाँ उठाये पमेश (पैमाइश) के लिए आ जाते हैं और हमारे आँगन के बीच निशान लगाकर कहते हैं कि चमारों के सारे घर हमारी छोड़ी हुई शामिलत में हैं।"

"तुम लोग जमीन के टुकड़े की बात करते हो, मुझे तो लगता है जैसे हम गरीबों की बहू-बेटियाँ उनकी शामिलत हों" भइये ने बापू की बात बीच में काटते हुए जैसे किसी रहस्य की ओर संकेत किया।" (पृ. 88)

उत्पीड़न के ऐसे प्रसंगों से दलित आत्मकथन भरे पड़े हैं। इन उत्पीड़नों का सिलसिला दूर तक जाता है। कहने को तो ये लेखक/लेखिका के व्यक्तिगत या पारिवारिक अनुभव हैं लेकिन असल में ये पूरे समाज का सच बयान करते हैं। उस सच का जिसका अतीत शताब्दियों तक फैला है और जनतंत्र के बावजूद जिसका वर्तमान व भविष्य फिलहाल महफूज़ नहीं लगता है।

16-3 èkkfebd i fjLFkfr

भारतीय समाज धर्म केन्द्रित रहा है। इस धर्मसत्ता का राजसत्ता और अर्थसत्ता से गहरा संबंध है। सामाजिक पदानुक्रम में दलितों की स्थिति का निर्धारण ब्राह्मणवादी धर्म की ही देन है। दलित आत्मकथनों में मोटे तौर पर धर्म से संबंधित निम्न प्रसंग मिलते हैं:

- 1) दलितों की अपनी धार्मिक मान्यताओं, प्रथाओं के स्थानीय रूप।
- 2) वर्णवादी धर्म में दलितों का विश्वास।
- 3) दलित समुदाय में मौजूद अंधविश्वास एवं धार्मिक कुरीतियाँ।
- 4) सवर्णों के धर्म-प्रतिष्ठान और दलित।
- 5) बौद्ध मत का स्वीकार : आत्मसम्मान एवं अस्मिता की अभिव्यक्ति।

16-3-1 èkkfebd fo'okl ds LFkkuh; : i

ऊपरी तौर पर दलित हिंदू धर्म के भीतर दिखते हैं मगर उनकी अपनी स्वायत्त धार्मिक प्रथाएँ एवं विश्वास हैं। तमाम इलाकों के भिन्न-भिन्न दलित समुदायों के स्थानीय देवी-

देवता अलग-अलग हैं। इन देवी-देवताओं का स्वरूप दलित समुदाय की स्थिति के अनुरूप ही है। मनौती मानने, देवी या देवता को प्रसन्न करने की विधियाँ दलितों की आर्थिक हालत के अनुसार परिकल्पित एवं विकसित हुई हैं। यही बात “देवस्थान” पर भी लागू होती है। पारंपरिक रूप से ये देवस्थान अगर घर से बाहर हुए तो अत्यंत सामान्य आकार-प्रकार के मिट्टी के ढूह या बगैर तराशे पत्थरों के रूप में हुआ करते थे और अगर घर के भीतर देवताओं को जगह दी गई तो उन्हीं वस्तुओं के साथ जिनका रोजमर्रा इस्तेमाल हुआ करता है। सवर्ण घरों में जिस तरह के ‘पूजा स्थान’ हुआ करते हैं वैसा इनमें नहीं होता। ‘पवित्रता’ का वैसा बोध भी नहीं। ‘तराल-अंतराल’ में शंकरराव खरात अपने घर के पूजा के आले का वर्णन इस तरह करते हैं : “डला (बड़ा टोकरा) के पीछे दीवार में एक बड़ा आला था जिसमें बाप-दादाओं के देवी-देवता रखे हुए थे। वह ‘देव आला’ ही था। उन देवताओं में एक ‘लक्ष्मी माता’ थीं। एक ‘मरिआई माँ’ थी। कभी-कभी तीज-त्यौहार के दिन मैं नहा-धोकर उन देवी-देवताओं को परात में निकाल कर, झरने से लाए हुए पानी से स्नान कराता था। माँ हर मंगलवार और शुक्रवार के दिन नहा-धोकर उनकी पूजा करती थी। परन्तु मैंने अन्ना को कभी भी इन देवी-देवताओं से किसी प्रकार का संबंध रखते हुए नहीं देखा ..” (पृ. 15)।

दलितों के अलग धार्मिक-सामाजिक विश्वास होते हैं इसकी चर्चा ‘अक्करमाशी’ में हुई है। इन विश्वासों में से एक है अपनी संतान को देवता के नाम पर दे देना। लड़की हुई तो देवदासी और लड़का हुआ तो पोतराज। शरणकुमार लिंबाले ने लिखा है: “ईश्वर को संतति समर्पित करने की परंपरा केवल पिछड़ी (दलित) जातियों में ही है। अंबा बाई, यल्लाम्मा, लक्ष्मी, खंडोबा – ये महार मातंगों के आराध्य देवता। मसोबा, मरीआई, खोकल्या आई, सरबाई-नामों की सूची बढ़ाई जा सकती है। .. खंडोबा पर भी बेटे-बेटियाँ छोड़ने का इधर रिवाज है। बेटे को ‘वाध्या’ तथा बेटे को ‘मुरली’ कहा जाता है। यल्लाम्मा के ‘जोगत्या’ और ‘जोगती’ होते हैं। मैंने कभी ब्राह्मण पोतराज या लिंगायत वाध्या को देखा नहीं है। दलितों में ही ये रूढ़ियाँ क्यों?” (पृ. 145–46)।

इन रूढ़ियों-प्रथाओं की चर्चा प्रायः सभी मराठी दलित आत्मकथनों में है। शांता कृष्ण कांबले ने मसाई देवी यात्रा के प्रसंग में पोतराज का वर्णन किया है : “महार बस्ती की सभी औरतों ने अपने घरों को लीप-पोतकर साफ-सुथरा बनाया था। वे सब नहा धोकर साड़ियाँ पहने हुई थीं। पोतराज ने रंग बिरंगे कपड़ों से बना घाघरा पहन रखा था और माथे पर कुंकुम लगाया था।पोतराज ने आरती गाई। आठ खुरों वाली भेड़ यानी गर्भिणी भेड़ को काटा गया और उसके पेट में से निकले बच्चे को भगवान के सामने जमीन में गाड़ दिया गया।” (पृ. 31) ‘छांग्या रूक्ख’ में ‘सिद्ध चानो’ नामक एक (दलित) देवता का जिक्र हुआ है: “साल की शुरुआत हमारे घर की पिछली कच्ची दीवार के साथ मिट्टी के एक छोटे से लिपे-पुते चबूतरे पर बाबा सिधार्मिचानों के नाम पर कुछ लोक-मंतर पढ़ने के साथ हुआ करती। ... बाबा सिद्ध चानों या बाबा सिद्ध वाला चमारों का एक प्रसिद्ध शक्तिशाली देवता और पशुओं का रखवाला माना जाता है।” (पृ. 149) कथा है कि एक बार सिद्ध चानो और भगवान कृष्ण के बीच टक्कर हुई। अठारह दिन तक ‘अखाड़ा’ लगा रहा। कृष्ण सिद्ध चानो से जीत न सके। आखिर में उन्होंने धोखेबाजी से सिद्ध चानों को मात दी। आज भी ‘बाबा सिद्ध चानो और भगवान कृष्ण का अखाड़ा लगता है।’ (पृ. 149) दया पवार ने महारों में भादवा पूजा का उल्लेख किया है। कथा इस प्रकार है कि भादों (भाद्रपद) का महीना महारों के लिए मुश्किल भरा होता है। खाने-पीने की बड़ी किल्लत इस महीने में रहती है। कभी इस महीने में गाँव के पटेल का बैल एक महार ने मारा। महार बस्ती में चूल्हा जला। पटेल को महारों पर शक हुआ। वे सब जाँच करने पहुँचे। पकड़े जाने पर दुर्गति होगी ऐसा सोचकर

महारों ने भादवा से विनती की। “तुम्हें कभी नहीं भूलेंगे” का वचन दिया। फिर क्या था, सभी गाँव वालों को देगची में आटे की सफेद-शुभ्र लोई दिखी। भादवा ने सबको संकट से बचाया इसलिए भादवा की पूजा आज भी चली आ रही है। (पृ. 67)

16-3-2 o.kbknh ekkfeJdrk dk ; FkkFk

जाति आधारित भेदभाव और उत्पीड़न को वैधता देने का काम हिन्दू धर्मशास्त्रियों ने किया। डॉ. आंबेडकर के लेखन का बड़ा हिस्सा इसलिए इन धर्मग्रंथों के विश्लेषण और खंडन में लगा। दलित आत्मकथनों में धर्मशास्त्रों के संदर्भ नहीं मिलते लेकिन उस मानसिकता के लोगों के प्रसंग कई बार आते हैं। वर्णवादी धर्म की सत्ता क्योंकि बहुत लंबे समय से भारतीय धर्म पर काबिज रही है इसलिए तमाम अपमानों, दुत्कारों के बाद भी उसके प्रति दलितों का आकर्षण बना रहा है। दलित बेशक देवस्थल, देवमूर्ति, देव ग्रंथ, देव पुरुष को स्पर्श नहीं कर सकते थे लेकिन ऐसा करने की इच्छा तो उनके भीतर मौजूद रही है। यह अस्वाभाविक भी नहीं था। पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, कर्मफल आदि का जो सिद्धांत रचा गया था, उसका यही ‘सुफल’ मिलना था। इस सिद्धांत की शर्तों पर जो जितना धार्मिक वह आगत के प्रति उतना आश्वस्त/इज्जत का हकदार भी। ‘यादों के पंछी’ का लेखक अपने आकर्षण को इन शब्दों में रखता है: “गाँव में रात को सवर्ण लोग मंदिर में भजन आदि गाने बैठते तो मैं भी मंदिर से दूर बैठकर भजन सुनता। अक्सर नाली के पास बैठता। भजन सुनता, भजन गाता भी। इतना ही आनंद था। लोग मेरी भक्ति देखकर कभी गुलाल, कभी नारियल का टुकड़ा तो कभी गुड़ मेरी ओर फेंक देते” (पृ. 74)।

‘नाज़ा’ में भी एक ऐसा ही प्रसंग है। लेखिका बिठोवा दर्शन के लिए पंढरपुर गई है। वह चोखा मेला (मध्ययुगीन दलित संत) पर फूल चढ़ाने के बाद बिठोवा मंदिर जाना चाहती है। माँ समझाती है, “महार को वहीं मंदिर में नहीं जाने दे तो” मैं बोली – “हमें बिठोवा का दर्शन क्यों नहीं करने देते। फिर हम लोग यहाँ किसलिए आये हैं?” माँ ने कहा – हम लोग दूर से ही दर्शन कर लेते हैं इसलिए हम लोग बिठोवा का दर्शन कर चुके हैं।” (पृ. 21)। ब्राह्मणों की नकल करने वाला एक पात्र ‘तराल-अंतराल’ में है। गेनूबुवा नामक यह व्यक्ति ‘तराल’ है। ‘तराल’ का मतलब है गाँव की चौकीदारी करने वाला। ‘तरालकी’, सिर्फ महार जाति के व्यक्ति को ही मिल सकती थी। गेनूबुवा के “गले में पंढरपुर की माला हमेशा लटकी रहती। उसका रहन-सहन भी ब्राह्मणों की तरह ही था धोती भी ब्राह्मणों की तरह पहनता। ऊपर की बगल बंदी ब्राह्मणों की तरह ही थी” (पृ. 112)। ब्राह्मणों की नकल करते-करते उसके दिमाग का भी ब्राह्मणीकरण हो गया था। पाठशाला में पढ़ने वाले शंकरराव से वह लाश उठाने को कहता है। मना किए जाने पर उसकी प्रतिक्रिया है: “हत् तेरी, गधइया के! बाप कहूं आन गाँव चलौ गयो ऐ। बेटा कलट्टर बनिवे जायगौ इस्कूल में। अब महारन के छोरा थानेदार-तैसीलदार बनिंगे भैनचोद।” (पृ. 113)। गेनूबुवा जैसे पात्र अन्य आत्मकथनों में भी मिल सकते हैं लेकिन कथा-साहित्य (कहानी/उपन्यास) में ऐसे पात्रों को बखूबी पेश किया गया है।

16-3-3 Økfrdkjh uo tkxfr % ckS) er dh vksj

दलित हिंदू धर्म को श्रेष्ठ मानते हैं, ऐसा कहना नासमझी है। उनके सामने जब-जब विकल्प आए हैं उन्होंने इस धर्म में अपनी पददलित स्थिति से अंतरण करने की कोशिश की है। मध्ययुग में इस्लाम के आगमन के बाद धर्मांतरण हुए हैं और आधुनिक काल में ईसाइयों के आने पर दलितों ने यह धर्म स्वीकारा है। डॉ. आंबेडकर ने 1935 में घोषणा की थी कि उनका वंश जन्म पर नहीं था लेकिन वे हिन्दू के रूप में नहीं मरेंगे।

अपनी इस घोषणा के अनुसार उन्होंने 14 अगस्त 1956 को नागपुर में बौद्ध धम्म की दीक्षा ली। यह दलितों के सांस्कृतिक जीवन की बहुत बड़ी परिघटना थी। पूरे भारत का विशेषकर महाराष्ट्र का दलित समुदाय इस परिघटना से गहरे में प्रभावित हुआ। यह ऐसा वक्त था जब दलितों में मानसिक परिवर्तन की प्रक्रिया बहुत बुनियादी रूप में और तेज गति से आगे बढ़ रही थी। इस प्रक्रिया का विस्तृत, अंतरंग और प्रामाणिक ब्यौरा दलित आत्मकथनों में उपलब्ध है। नाम लेना हो तो 'तराल-अंतराल', 'अछूत', 'जीवन हमारा', 'नाजा', और 'यादों के पंछी' का उल्लेख किया जा सकता है। बाबासाहेब के भाषणों ने उनके द्वारा तैयार किए गए कार्यक्रमों ने और उनके द्वारा शुरू हुए आंदोलनों ने सांस्कृतिक परिवर्तन का मानस व परिवेश तैयार किया। शांताकृष्ण कांबले ने बाबासाहेब के अभियानों का, उनके संदेशों का सार-संक्षेप में इन शब्दों में पेश किया है: 'मरे हुए जानवरों के मांस मत खाओ। गाँव में कोई मर गया हो तो उसकी चिता मत सजाओ। दूसरे गाँव में भी इस काम के लिए मत जाओ। महार लोग गाँव के काम न करें। .. दलितों, जागो! गंदे काम मत करो। लड़कियों को स्कूल भेजो। अशिक्षित मत रहो!' (पृ. 77) बेबी कांबले ने लिखा है: 'आंबेडकर ने बौद्ध धम्म इसलिए चुना क्योंकि बौद्ध धम्म चरित्र का निर्माण करता है। आंबेडकर ने बौद्ध धम्म से ही हमें सत्य और विवेक का रास्ता बताया। हमारी पीढ़ियाँ मंदिरों की चौखटों पर अपना सर पटकती रहीं, देवताओं को अपना दुख सुनाती रहीं लेकिन वह विश्वकर्ता भगवान आँख होकर भी हम लोगों के लिए अंधा बना रहा। हम विवेकहीन - बुद्धि-हीन गुलाम बने रहे फिर हमारे भीतर चेतना फूँकी डॉ. आंबेडकर ने। 'जीवन हमारा' (पृ. 31)। परिवर्तन आसान नहीं था। परिवर्तन के विरुद्ध भीतरी और बाहरी दोनों मोर्चों पर संघर्ष चल रहा था। बेबी कांबले ने सवर्णों की प्रतिक्रियाएँ दर्ज की हैं, "अरे वो आंबेडकर जरा पढ़ क्या गया है, इन लोगों को बहुत घमण्ड हो गया है।" (वहीं, पृ. 121) दलितों ने मरे जानवर खाना, खाल निकालना, महार की करना ही नहीं छोड़ा, हिन्दुओं के तीज-त्यौहार मनाने भी बंद कर दिए। "फलटण के लोगों ने तय किया कि गुड़ी पाडवा (मराठी वर्ष का नया दिन) नहीं मनाया जायेगा। दरवाजे पर गुड़ी नहीं लगायी जायेगी।" (वहीं पृ.123) शंकरराव खरात लिखते हैं कि डॉ. आंबेडकर के प्रभाव के चलते म्हैसोबा (स्थानीय देवता) की जात्रा बंद हुई। "धर्मान्तर आंदोलन की हवा में हमारे गाँव की भजन मंडली बंद हो गई। लेकिन इस मंडली ने आगे चलकर कुछ अन्य सामाजिक जलसे शुरू कर दिए।" ('तराल-अंतराल', पृ. 221)। इसी तरह 'तमाशा' इकतारे पर गायन 'महाभारत ग्रंथ वाचन', मरिआई माता की सालाना जन्ना (मेला) भी बंद हुए (वहीं, पृ. 219-223)। "हमारी बस्ती में हर साल "महारों का गुरु" भी आता था। . वह किशोरावस्था वाले लड़कों के 'कान फूँकता'।... उसका कीर्तन सुनने के लिए सारी महारबस्ती चौपाल में इकट्ठी हो जाती। लेकिन इन कुछेक सालों में, वे "गुरुजी" भी कभी दिखाई नहीं दिये। यह भी धर्मांतर आंदोलन का ही परिणाम था।" (वहीं, पृ. 222-223) प्र.ई. सोनकांबले ने मिलिंह कॉलेज के छात्रों में इस आंदोलन के परिणामस्वरूप आए चेतनागत बदलावों का संकेत किया है। (देखें 'यादों के पंछी' पृ. 130-135) शंकरराव खरात धर्मांतर आंदोलन के कारण दलितों के सामुदायिक जीवन पर पड़े प्रभाव के एक और महत्वपूर्ण आयाम की चर्चा की है, "धर्मांतर आंदोलन के कारण महार बस्ती से मनोरंजन और सांस्कृतिक कार्यक्रम बंद हो गए थे। महारवाड़ी के सांस्कृतिक जीवन में बहुत बड़ा खालीपन भर गया था।" ('तराल-अंतराल', पृ. 222) आंबेडकरी जलसों ने किस हद तक इस खालीपन को भरा यह गंभीर विचार का विषय है। शंकरराव खरात ने डॉ. आंबेडकर के जिस मूल्यवान कथन से अपनी रचना का समापन किया है उसे इस प्रसंग में देख लेना उचित लग रहा है", क्रांतिचक्र आधा ही घूमा है, उसका वृत्त पूरा हुए बिना सच्ची क्रांति नहीं हो सकती।" (वहीं, पृ. 286-87)

16-4 'k{k d i f j f L F k f r

दलितों के जो आत्मकथन उपलब्ध हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि इसके लेखक या लेखिका अपने परिवार, जाति, समुदाय के औपचारिक शिक्षा ग्रहण करने वाले प्रायः पहले व्यक्ति रहे हैं। शिक्षा का महत्व इसलिए उनसे अधिक और कौन जान सकता है। इन आत्मकथनों में शैक्षिक परिदृश्य के संबंध में जो सूचनाएँ दर्ज हैं उन्हें निम्न बिन्दुओं में रखा जा सकता है:

- क) घनघोर अशिक्षा का माहौल।
- ख) औपचारिक शिक्षा प्राप्ति से सम्बद्ध भ्रांतियाँ
- ग) बदलते राजनीतिक-सांस्कृतिक संदर्भों में शिक्षा के प्रति रुझान।
- घ) प्राइमरी स्कूलों का जातिवादी माहौल।
- ङ) उच्च शिक्षा संस्थानों की हकीकत,
- च) डॉ. आंबेडकर की प्रेरणा और शिक्षा के ज़रिए आत्मसम्मान व रोज़गार हासिल करने की ज़िद।

16-4-1 KkuktŁ ds i kjä fj d : i

यह बात समझने की है कि दलित समुदाय भले ही औपचारिक शिक्षा से, शास्त्र-ज्ञान से दूर रखा गया हो लेकिन वह अकुशल या अज्ञानी कभी नहीं रहा। उसके पास वह कौशल और दक्षता रही है जिसे हासिल करने के लिए आज विशेष व दीर्घकालीन प्रशिक्षण की ज़रूरत पड़ती है। चमड़े के जूते-चप्पल बनाने का, मिट्टी के बर्तन बनाने का, बाल काटने, कपड़ा बुनने-रंगने का, लोहे का, लकड़ी का काम हो या स्थापत्य, चित्रकला, मूर्ति निर्माण का। इन सभी कामों के जानकार दलित समुदाय के लोग होते रहे हैं।

कार्यकुशलता और श्रम दोनों में दलित समाज अग्रणी रहा है। ऐसे समाज को अज्ञानी कहना नासमझी होगा। मनुष्यता का तकाज़ा तो यही था कि उत्पादन और श्रम से जुड़े लोग विशेष प्रतिष्ठा के हकदार होते लेकिन ब्राह्मणवाद ने उल्टी धारा बहा दी। उसने दलितों के कौशल, ज्ञान और श्रम का भरपूर दोहन किया और बदले में उन्हें हीन दर्जा दिया – निरंतर अपमान, अवहेलना तथा शोषण। 'ज्ञान' के स्थान पर चेतना को प्राथमिक मानने की ज़रूरत इसलिए महसूस हुई हम दलित आत्मकथनों में शिक्षा प्राप्ति की जो ललक पाते हैं वह वास्तव में नई चेतना से जुड़ने की ललक के साथ है। दलित लेखन और आंदोलन में इसे ही आंबेडकरी चेतना कहा जाता है। यह अधिकार-चेतना है – आत्मसम्मान और खुदमुख्तारी लिए हुए।

16-4-2 f'k{k vkš nfyr % #d ko Vka l s Vd j k r h ub l Ä t k i

शिक्षा हासिल करना दलितों के लिए बेहद मुश्किल था। बाधाएँ परंपरागत थीं और नयी भी। मुश्किलें बाहर से थीं और भीतर से भी। दो जून की रोटी भी ठीक से नहीं मिल पा रही तो संतान को स्कूल भेजने की बात कोई दलित परिवार कैसे सोच सकता था। शिक्षा को लेकर अंध विश्वास भी था। 'उचक्का' में एक ऐसा प्रसंग है। लक्ष्मण ने जब स्कूल जाना शुरू किया इत्तेफ़ाक से उसी समय बिरादरी के कुछ बच्चों को उल्टी-दस्त लग गई। लोगों ने लेखक के पिता को घेरा, "तूने अपने लड़के लक्ष्या को स्कूल में भरती कर दिया है, इसी कारण हमारे बच्चों को उलटियाँ और टट्टी हो रही हैं। हम लोग

बामन लाला तो हैं नहीं कि लड़कों से पढ़ाई करवायें। हमारी बिरादरी में आज तक क्या कोई स्कूल गया है?" (पृ. 19) उधर स्कूल में लक्ष्मण की क्या स्थिति थी?" कक्षा के सभी लड़के मुझे कंकड़ों से मारते; कहते, उठाईगीरों का लक्ष्या स्कूल में कैसे? कुछ लड़के चिल्लाते, अरे यह तो केकड़े खाने वाला है।" (वहीं, पृ. 18-19) स्कूल जाते दलित बच्चों के अनुभव कमोबेश ऐसे ही हैं। प्र.ई. सोनकांबले ने अपने अनुभवों का निचोड़ इन शब्दों में व्यक्त किया है: "अछूत छात्रों की तो कक्षा में कोई कीमत ही नहीं होती थी।" ('यादों के पंछी', पृ. 171) सोनकांबले के माँ-बाप नहीं थे। वे बहन के घर पर रहकर पढ़ाई कर रहे थे। बहन की हालत भी अच्छी नहीं। वह कहती, "कल से स्कूल मत जाना। स्कूल छोड़ दो। मजदूरी करो।" कई बार वह रोटी भी नहीं देती थी। (वहीं, पृ. 40) और इस पढ़ाई पर सवर्ण समाज की क्या प्रतिक्रिया थी: "बहुत पढ़ गया भाई ये। ज़रूर बड़ा आदमी बनेगा मादरचोद!" "बहुत ज्ञानी है रसाला! अब तो अछूतों का राज आ गया है।" (वहीं, पृ. 74-75) शरण कुमार लिंगबाले स्कूली जीवन के शुरुआती अनुभव को इस तरह पेश करते हैं: "पेशाब की छुट्टी हुई कि बच्चे छेड़ते, कंकड़ मारते, 'महार-महार' कहकर चिल्लाते, मैं बेहद परेशान हो जाता।" ('अक्करमाशी', पृ. 42) बलबीर माधोपुरी द्वारा सुनी-सही सवर्ण कुण्ठा इन शब्दों में दर्ज है: "सारा चमार टोला पढ़ने बैठ गया। दिन-ब-दिन इनका दिमाग खराब हुए जाता है। अगर इन्हें नौकरियाँ मिल गई तो हमारे खेतों में काम कौन करेगा?" ('छांग्या रूख' पृ. 171) ओमप्रकाश वाल्मीकि प्राइमरी स्कूल का अनुभव बताते हुए लिखते हैं कि उन्हें स्कूल के मैदान में झाड़ू लगाने का आदेश मिला। धूल से चेहरा सिर भर उठा। पानी तक पीने की इजाजत नहीं। यह ड्यूटी दो दिन बजाने के बाद जब वे तीसरे दिन कक्षा में गए तो हेडमास्टर का संबोधन था, "अबे, ओ चूहड़े के, कहीं घुस गया अपनी माँ....." ('जूठन') शंकरराव खरात स्कूल में अपने पहले दिन का वाक्या बताते हैं कि वे अनजाने में उस पंक्ति में बैठ गए जिसमें 'ब्राह्मण बनियों' के लड़के बैठे थे। "मुझे देखते ही उन लड़कों के कान खड़े हो गये। अचानक उनमें ऐसी भगदड़ पड़ गई मानो सांप-बिच्छू निकल आया हो।" ('तराल-अंतराल', पृ. 48) सब ओर से गालियाँ ही गालियाँ "ऐ भोसड़ी के। तू हमें छूना मत, नई तो देख..।" एक ब्राह्मण लड़के ने स्लेट मार दी। माथे पर गूमड़ निकल आया। शिकायत मास्टर से की गई। ब्राह्मण बालकों ने उल्टे शंकर को दोषी ठहराया। शंकर ने सफाई दी कि इन्हें छूने का कोई इरादा नहीं था उनका। लेकिन मास्टर कहा मानने वाला था। हाथ में छड़ी लेकर बरस पड़ा, "क्यों रे महारडया। किस नशे में है तू? आज पहले दिन ही स्कूल में आया है और ये छूतछात करने लगा है। डेड़ कहीं के। यहाँ पाठशाला है कि महार बस्ती?" (वहीं, पृ. 50)

इतनी विकट परिस्थितियों के बावजूद अगर दलित समुदाय के लोग अपने बच्चों को पढ़ा रहे थे तो यह उनका दुस्साहस ही था। इसकी ऊर्जा उन्हें डॉ. आंबेडकर द्वारा चलाए जा रहे सामाजिक आंदोलन से मिल रही थी। इसका विस्तृत ब्यौरा 'तराल-अंतराल' में मिलता है। (देखें पृ. 94-101 तथा पृ. 136-147)

16-5 jktuhfrd i fjfLFkfr

दलित आत्मकथनों में राजनीतिक संदर्भ अपेक्षाकृत कम ही मिलते हैं। लगभग सभी आत्मकथन भारत की राजनीतिक आजादी के कुछ बरस पहले और कुछ दशक बाद के समय पर आधारित हैं। यह बेहद राजनीतिक गहमागहमी का समय है। इस गहमागहमी में दलित लेखकों ने कम ही रुचि दिखाई है। लेकिन इन आत्मकथनों में राजनीतिक चेतना न हो, ऐसा नहीं है। दलित लेखकों की रुचि और चिंता राजनीतिक आजादी से ज्यादा सामाजिक गुलामी से मुक्ति में है। वे गांधी-नेहरू केन्द्रित राजनीति के बजाय

आंबेडकर द्वारा चलाए जा रहे आंदोलन से जुड़े। पहली पीढ़ी के आत्मकथन दलित लेखकों मसलन शंकरराव खरात, दया पवार, और बेबी कांबले ने डॉ. आंबेडकर द्वारा चलाए जा रहे सामाजिक-राजनीतिक चेतना वाले आंदोलनों के विस्तृत ब्यौरे दिए हैं। 'तराल-अंतराल' महारवाड़ा की बदलती चेतना का अनूठा साक्ष्य है। दलितों की चेतना में बदलाव की अनिवार्य शर्तें थीं कि उन्हें धर्म की, ईश्वरवाद की दासता से छुटकारा दिलाया जाए, आत्मसम्मान का भाव भरा जाए, संगठित किया जाए, शिक्षा के प्रति उन्मुख किया जाए, कठोर संघर्ष के लिए, आन्दोलन के लिए तैयार किया जाए। डॉ. आंबेडकर ने यही किया। उनके द्वारा प्रकाशित 'जनता' पत्रिका का वाचन महारवाड़ा की चौपाल में होता था। इसका असर विद्युत-स्पर्श की तरह था। राजनीतिक चेतना की जमीन इस तरह तैयार हो रही थी। यह काँग्रेस चालित राजनीतिक चेतना से भिन्न थी जहाँ सामाजिक प्रश्नों पर विचार की गुंजाइश ज़्यादा नहीं थी। अपने आत्मकथन में शंकरराव खरात ने उस आसमंजस का, अंतर्विरोध का जिक्र किया है जो नई चेतना के फलस्वरूप महारवाड़ा में उभर रहा था। नई पीढ़ी के अधिकांश युवक डॉ. आंबेडकर के विचारों के साथ थे तो पुरानी पीढ़ी 'संस्कारों' से मुक्त नहीं हो पा रही थी। शंकर के गाँव का एक पोतराज था – मरीमाई माता का। 'मरिबा' नाम था उसका। उसने "डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर की जय" बोलते हुए अपने बाल कटवा डाले।" लोगों में भय की लहर दौड़ गई। दैवी का प्रकोप। पता नहीं कौन-सा अनिष्ट हो!" इस तरह की शंकाओं से महाखाड़ी लोगों का मन भयभीत हो उठा। कुछ लोगों ने देवी की जात की – मनौती मानी। जिस लड़के ने मरिबा के बाल काटे उसे देवी को दस बार दूध से स्नान कराना पड़ा। लोगों ने देवी को हरी चूड़ियाँ और वस्त्र अर्पण किए। महारवाड़ी में एक तरफ नई विचारधारा की लहर फैल रही थी, दूसरी ओर रूढ़ परंपराओं से लोग जकड़े हुए थे। पूरी बस्ती में अजीब विरोधाभास के चित्र दिखाई दे रहे थे।" (पृ. 147) इस चेतना और विदेशी वस्त्र जलाने वाली 'स्वदेशी' चेतना में किस तरह तुलना की जाए? 'स्वदेशी' के समर्थकों, विचारकों के सरोकारों में 'मरीमाई' का, 'पोतराज' का मुद्दा शामिल था? दया पवार ने 'स्वतंत्रता दिवस' को याद करते हुए लिखा, "अभी तक याद है, स्वतंत्रता की जलेबी चौथी कक्षा में मिली थी। एक चमकदार बिल्ला मिला, जिसमें भारतमाता की प्रतिमा अंकित थी। बड़े गर्व से उसे छाती पर लगाकर घूमता। परन्तु स्वतंत्रता मिली अर्थात् वास्तव में क्या हुआ? गाँव के स्कूल में नेताओं के भाषण हुए। वे जो कुछ भी बोल रहे थे, मेरी समझ के बाहर था।" ('अछूत', पृ. 53) 'समझ से बाहर' होना उम्र के कारण नहीं, संवेदना के कारण था। किन प्रश्नों से कौन संवेदित होगा, यह तय होता है उसके सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश से। दया पवार लिखते हैं: "सवर्ण लड़कों की और मेरी संवेदना में काफी अंतर है। इसका अनुभव वैसे स्कूल में ही हो गया था। .. साने गुरुजी की "भारतीय संस्कृति" विषय पर निबंध प्रतियोगिता थी। कुलकर्णी नाम के हमारे मराठी शिक्षक थे। निबंध पढ़कर वे बहुत बेचैन हो उठे। उन्होंने मुझे बुलाकर बहुत समझाया, "तू जो विचार रखता है, दरअसल वह राष्ट्रदोह है।" (पृ. 165)

दलित आत्मकथनों में 'सवर्ण राष्ट्रवाद' के प्रति निर्मम रवैया है। लेकिन निर्ममता अपने प्रति भी है। बाबासाहेब के बाद सामाजिक आन्दोलन की क्या गति हुई इसका बड़ा आलोचनात्मक विश्लेषण मराठी के आत्मकथनों में मिलता है। रिपब्लिकन पार्टी में किस तरह फूट पड़ी, उसके कितने धड़े हुए, इन धड़ों का क्षेत्रीय, जातिगत, उपजातिगत आधार क्या थे – पूरी हालात का जायजा दलित आत्मकथनों में मिलेगा। 'अछूत' में पूरी तफसील है (देखें, पृ. 210-11 व आगे)

बेबी कांबले तल्ख स्वर में कहती हैं : "हमारे बच्चे इतने नालायक निकलेंगे यह कभी सोचा ही नहीं था। हमने परजीवी पैदा किये। अब हमारे नेता भी भ्रष्ट हो गए हैं। उन्हें दिल्ली की गद्दी चाहिए। यह देख मेरा मन रो पड़ता है।" ('जीवन हमारा', पृ. 132) यह ध्यान

रहे कि बेबी कांबले का आत्मकथन आज से पचीस बरस पहले (1986) में छपा था। शंकरराव खरात भी अपने आत्मकथन का समापन लगभग बेबी कांबले के स्वर में करते हैं: "... लेकिन हमारा दलित समाज आज भी घने अंधकार में से बाहर निकलने के लिए छट पटा रहा है। वह आज भी उससे बाहर नहीं निकल सका, यह बात मुझे चुभती रहती है और मैं बेचैन हो जाता हूँ..." (पृ. 286) अपने आत्मकथन के आखिरी हिस्से में शरण कुमार लिंबाले 'आंबेडकर जयंती' का एक अनुभव बताते हैं: डॉ. बाबासाहेब आंबेडकरजी का जुलूस निकला। दगडु वाघंबर जोर-जोर से नारे लगा रहा था। बनसोडे गुरुजी, धंसवाडीकर गुरुजी और कदम मामा जुलूस में घूम रहे थे। यह जुलूस विशुद्ध महारों का था। विशुद्ध खानदानी महार। और मैं? इस पूरे जुलूस में मैं भ्रष्ट जारज खूनवाला। मुझे हलकेपन का अहसास हो रहा है। 'भीम जनमा सोमवंशी कुल में' जैसी गीत पंक्तियाँ सुनकर मैं छटपटाता हूँ। डॉ. आंबेडकर भी पूरे महार जाति के नहीं हैं। वे भी महारों में सोमवंशी कुल के। इन सबमें मैं कहा हूँ?" ('अक्करमाशी', पृ. 162) साहित्यिक विमर्शों में जब राजनीतिक दृष्टि और लेखकीय ईमानदारी की चर्चा होती है तो दलित आत्मकथनों का जिक्र भी नहीं किया जाता। ये आत्मकथन वस्तुतः मानक बनने की क्षमता रखते हैं।

16-6 nfyf L=h vkRedFkk dk of'k"V;

दलित आत्मकथनों पर विचार करते समय हमारा ध्यान दलित स्त्री आत्मकथनों पर जाता है। ये आत्मकथन दलित लेखन और चिंतन के नए अध्याय के रूप में देखे जाते हैं। इनसे दलित साहित्य की निरंतर विकसित होती धारा की सूचना मिलती है। इन आत्मकथनों पर विचार के ये बिन्दु होंगे:

- क) दलित स्त्री की जिंदगी का सच।
- ख) दलित स्त्री का प्रतिरोध।

16-6-1 nfyf L=h dh ftvxh dk l p

स्त्री शिक्षा पर सबसे पहले और सर्वाधिक जोर देने वाले सत्यशोधक समाज (1873) के संस्थापक महात्मा ज्योतिबा फुले का कहना था कि "राख ही जलने का दर्द जानती है।" दलित स्त्री आत्मकथनों का मूल्य इस कथन की रोशनी में बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। डॉ. आंबेडकर ने फुले के अभियान को आगे बढ़ाते हुए स्त्रियों को सामाजिक परिवर्तन के आंदोलन से जोड़ा था। दलित स्त्रियों की एक जाग्रत और संघर्षशील पीढ़ी आंबेडकरी आन्दोलन के दौरान तैयार हुई। आत्मकथन लिखने की हिम्मत और शुरुआत इसी पीढ़ी ने की। प्रमुख दलित स्त्री आत्मकथनों में 'रात्रनदिन आम्हा...' (1990, शांताबाई, धनजी दानी, 1919-2001) 'मितलेली कवाड' (1983, मुक्ता सर्वगोड, 1922-2004), 'माज्या जल्माची चित्तरकथा' (1990, शांताबाई कृष्ण कांबले - 1923, हिन्दी अनुवाद 'नाज़ा' 2009), 'अंतःस्फोट' (1989, कुमुद पावडे - 1938, इस आत्मकथा के एक अंश का हिन्दी अनुवाद 'कथादेश' हिन्दी मासिक में अप्रैल 2005 अंक में छपा है।), 'आयदान' (2003, उर्मिला पवार-1945) आदि हैं। हिन्दी में अब तक पूर्ण आत्मकथन दो ही हैं - 'दोहरा अभिशाप' (1999, कौशल्या बैसंत्री) तथा 'शिकंजे का दर्द' (सुशीला टाकभौरे)। इसके अतिरिक्त 'अपेक्षा' और 'अन्यथा' पत्रिकाओं ने दलित स्त्री पर केन्द्रित विशेषांक निकाले हैं जिसमें कई दलित लेखिकाओं के आत्मकथन प्रकाशित हैं।

दलित स्त्री आत्मकथन एक बड़े अभाव की पूर्ति करते हैं। दलित स्त्रियों ने दलित आंदोलन को बहुस्तरीय बनाया है। अपनी जिंदगी का सच बयान करके उन्होंने आंदोलन

की दिशा को वांछित परिप्रेक्ष्य देने का काम किया है। दलित स्त्रियों की जिंदगी, उनकी समस्याओं से आंबेडकरवादी आन्दोलन का जुड़ाव मजबूत हुआ है। परिवार का जो ढाँचा हमारे समाज में है वह पितृसत्तात्मक है। इस पितृसत्ता के 'दलित संस्करण' पर बहस इन आत्मकथनों के प्रकाशन के बाद के बाद बेहतर ढंग से शुरू हुई है। दलित स्त्री को स्त्री होने का, दलित होने का और गरीब होने का तिहरा संताप एक साथ झेलना पड़ता है। गैर-दलित पुरुषों के लिए वह उपभोग सामग्री है तो गैर-दलित स्त्रियों के लिए तिरस्कार योग्य समुदाय। स्वयं दलित पुरुषों की निगाह उसे गैर-बराबर मानती है। उर्मिला पवार कहती हैं कि अपनी स्त्रियों के प्रति दलित पुरुषों का व्यवहार मानवीय नहीं होता। (ट्रांसलेटिंग कास्ट, पृ. 237)।

दलित समुदाय की कई ऐसी प्रथाएँ हैं जो घोर स्त्री विरोधी हैं। ऐसी ही एक 'खोड़ा प्रथा' का जिक्र बेबी कांबले ने अपने आत्मकथन में किया है। ('जीवन हमारा', पृ. 109-11) आदमी अपना प्रभुत्व साबित करने के लिए बहू को पीटता। अत्याचारों से तंग बहू अगर मायके भाग जाती तो उसे पुनः ससुराल लाया जाता। "ससुराल पहुँचने पर उस पर एक नया कहर टूट पड़ता। पाँच किलो वजन की लकड़ी बढ़ई के पास ले जाकर गोल आकार में कटवाई जाती। उस गोल लकड़ी के बीचो बीच पाँव घुसने जितना छेद बनवाया जाता। पाँव में पहनाने के बाद वह निकल न जाए, इसलिए छेद के बीचो-बीच एक सरिया लगा दिया जाता। यह बहू के सीधे पाँव में पहना दिया जाता। इसे 'खोड़ा' कहा जाता है।" (वहीं, पृ. 111) यह खोड़ा पहनकर बहू को सारा काम करना पड़ता। उसके पाँव जख्मी होते और उसमें से अक्सर खून निकलता।

दलित स्त्री की 'स्वतंत्रता' के बड़े गीत गाए गए हैं। दलित स्त्रियों के आत्मकथन इस समझ पर पुनर्विचार के लिए बाध्य करते हैं। कौशल्या बैसंत्री का 'दोहरा अभिशाप', शांता बाई कांबले का आत्मकथन 'नाजा' दर्शाते हैं कि दलित स्त्री के दुख ज़्यादा गहरे हैं, उस पर पाबन्दियाँ भी कम नहीं हैं। आत्मकथन की भूमिका में कौशल्या बैसंत्री लिखती हैं : "मेरे उच्च शिक्षित पति, लेखक और भारत सरकार में उच्च पद पर सेवारत रहे। उन्हें ताम्र पत्र भी मिला है और स्वतंत्रता सेनानी की पेंशन भी। पति ने कभी मेरी कदर ही नहीं की बल्कि रोज़ रोज़ के झगड़े, गालियों से मुझे मजबूरन घर छोड़ना पड़ा और कोर्ट केस करना पड़ा।" यह उच्च शिक्षित परिवार की हकीकत है। शांता कांबले और सुशीला टाकभौरे को भी अपने पतियों से कम दुख नहीं मिले। शांता कांबले साबित करती हैं कि भूख की समस्या का सामना दलित स्त्रियों ने ज़्यादा किया है। लालू महारिन का प्रसंग बानगी के तौर पर देखा जा सकता है : "लालू महारिन को बच्चा हुआ। बारह दिन हो गए लेकिन घर में खाने को एक दाना नहीं था। पेट भूख के मारे जल रहा था। क्या खाए कुछ सूझ नहीं रहा था। एकाएक लालू उठ खड़ी हुई। नवजात को गुदड़ी में सुलाया। ऊपर से कपड़ा ओढ़ाया और रामा चौगुले के केले के बागान की ओर निकल गई। केड़वारी से ही सटा हुआ भुट्टे का खेत था। लालू उसी में घुस गई और कच्चे भुट्टे तोड़कर खाने लगी। दूर से ही रामा चौगुले ने यह देखा तो आवाज़ लगाई - "कौन है भुट्टे के खेत में। भुट्टा तोड़ते तुझे शरम नहीं आती क्या?" यह कहते-कहते वह पास आ गया तो देखा लालू थी। वह बोला - "अरी कच्चे भुट्टे खा रही है!" लालू ने कहा - "मैं बारह दिन से जच्चगी में हूँ। घर में खाने को एक दाना नहीं है और पेट में आग लगी है। क्या खाऊँ मैं?" यह सुनते ही रामा ने दुखी होकर कहा - "अरे यह खाने से तो तू मर जाएगी। तेरा पति कौड़ी कहाँ गया? उसे कुछ काम नहीं है क्या?" "वह घर में बैठे हैं।" यह सुनकर रामा चौगुले चुप हो गया।" ('नाजा', पृ. 32-33)

लेखिका की माँ गवली बाई का अनुभव भी कुछ ऐसा ही है। (पृ. 33) कुमुद पावड़े ने अपने आत्मकथन में बताया है कि उनकी पढ़ाई पर व्यंग्य करने वाले सवर्ण समाज के लोग तो थे ही, “बल्कि बहुजन समाज के तथाकथित सुधारक, खुद को ब्राह्मण विरोधी बताकर इठलाने वाले .. महाभाग भी थे।” (‘मेरी संस्कृत कथा’, ‘कथादेश’ अप्रैल, 2005, पृ. 67)

16-6-2 nfyf L=h dk Áfrjkek

अपने ऊपर होने वाले अन्याय को सार्वजनिक करना वस्तुतः उसका प्रतिरोध करना है। दलित स्त्रियों के आत्मकथन लैंगिक उत्पीड़न का मुद्दा उठाकर न्याय के पक्ष में मानस तैयार करते हैं। ऐसा नहीं है कि आन्दोलन और लेखन में आगे आना दलित स्त्रियों के लिए सहूलियत भरा काम रहा हो। उन्हें सबसे पहला विरोध अपने ही समुदाय के पुरुषवादियों से सहना पड़ा। बेबी कांबले ने लिखा है : “समाज ने हमें गुलाम बनाकर रखा था लेकिन हम गुलाम भी इंसान ही थे। हमारी भी इच्छा होती कि हम भी किसी पर अपनी हुकूमत चलाएँ, किसी को गुलाम बनाएँ, इसलिए हमने अपने ही घर के लोगों को गुलाम बनाने की सोची और गुलाम बनाया। पराए घर से आई लड़की अर्थात् बहू को।” (‘जीवन हमारा’, पृ. 99) एक अन्य प्रसंग में वे लिखती हैं कि गुलाम बनाई गई औरतें “मन-ही-मन इस अन्याय और अपमान के विरोध के लिए छटपटाती भी थीं। (पृ. 112) कौशल्या बैसंत्री ने इसी तड़प को शब्द देते हुए लिखा, “पुत्र, भाई, पति सब मुझ पर नाराज हो सकते हैं परन्तु मुझे भी तो स्वतंत्रता चाहिए कि मैं अपनी बात समाज के सामने रख सकूँ। मेरे जैसे अनुभव और भी महिलाओं को होंगे परन्तु समाज और परिवार के भय से अपने अनुभव समाज के सामने उजागर करने से डरतीं और जीवनभर घुटन में जीती हैं। समाज की आँखें खोलने के लिए ऐसे अनुभव सामने लाने की ज़रूरत है।” (‘दोहरा अभिशाप’, पृ. 8, भूमिका से)

न्याय की आस में अपनी पीड़ा को शब्द देने वाली दलित स्त्रियों को ‘डायन’ और ‘सुअर’ जैसे विशेषणों से नवाज़कर उनका मुँह बंद करने की कोशिश भी की जा रही है लेकिन समाज के जनतांत्रिकीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ना है। ऐसे अवरोध असल में उसे और सजग-सचेत बनाने का काम करते हैं।

16-7 l kjka k

दलित आत्मकथन दलितों की जिंदगी के प्रामाणिक दस्तावेज़ हैं। वे दलितों पर किए गए दीर्घकालीन अन्याय के साक्षी भी हैं। इन आत्मकथनों ने साहित्य की प्रकृति, उसका तेवर, उसका मिज़ाज बदलने का काम किया है। आत्मकथनों की भाषा, शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास, साहित्य-संसार में बहुत कुछ नया जोड़ते हैं। आत्मकथन एक साहित्य विधा के रूप में तो पहले से मान्य था, अब वह केन्द्रीय विधाओं में गिना जाने लगा है। दलित स्त्री आत्मकथनों ने न्याय और मानवाधिकार के प्रश्न को नए सिरे से उठाकर आलोचना का दायरा उल्लेखनीय रूप से बढ़ा दिया है।

दलितों की जिंदगी के सभी आयाम – सांस्कृतिक, धार्मिक, शैक्षिक, राजनीतिक, आर्थिक इन आत्मकथनों में दर्ज हैं। वर्णवादी क्रूरता के तमाम रूप दलित आत्मकथनों में देखे जा सकते हैं। साथ ही दलित जातियों के भीतर मौजूद जातिवाद भी पहचाना जा सकता है। पितृसत्ता के सवाल पर नया मंथन प्रारंभ करने की भूमिका भी इन आत्मकथनों ने निभाई है। साहित्य को नए पाठक देने का काम भी इस विधा ने किया है।

‘स्वतंत्रता का अर्थ’, ‘स्वाधीनता के लिए संघर्ष’ जैसे प्रचलित पदबंधों को पुनर्परिभाषित करने की अनिवार्यता दलित आत्मकथनों ने रेखांकित की है लेकिन इससे बढ़कर राष्ट्र की अवधारणा के सीमांकन का काम उन्होंने किया है। पिछली शताब्दी दलित आत्मकथनों से गुजरे बगैर ठीक से नहीं समझी जा सकती।



bdkbz 17 'जूठन' : आत्मानुभूति की मर्मांतक अभिव्यक्ति

bdkbz dh : i js[kk

- 17.0 उद्देश्य
- 17.1 प्रस्तावना
- 17.2 आत्मकथन का परिचय
- 17.3 हिंदी दलित आत्मकथन की पृष्ठभूमि
- 17.4 दलित आत्मकथन का विकास
- 17.5 ओमप्रकाश वाल्मीकि : व्यक्तित्व एवं रचनात्मक योगदान
- 17.6 'जूठन' की कथावस्तु
- 17.7 जूठन की कथावस्तु का विश्लेषण
- 17.8 जूठन आत्मकथन के पात्र और चरित्र चित्रण
- 17.9 सारांश

17-0 m1s ;

आधुनिक हिंदी साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा के रूप में उभरी आत्मकथन विधा का परिचय तथा उसमें दलित आत्मकथन का स्थान निर्धारण करना इस इकाई का उद्देश्य है। आप इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आत्मचरित्र तथा दलित आत्मकथन के अंतर से अवगत होंगे। हिंदी दलित आत्मकथनों के क्रमिक विकास का परिचय प्राप्त करेंगे। दलित आत्मकथन 'जूठन' पढ़ने के बाद आप को दलित आत्मकथन का संपूर्ण परिचय प्राप्त होगा। इस इकाई के अध्ययन के बाद:

साहित्यिक विधा के रूप में आत्मकथन विधा को समझ सकेंगे;

भारतीय समाज के संदर्भ में दलित आत्मकथन की अवधारणा को समझ सकेंगे;
और

हिंदी के प्रमुख दलित आत्मकथनों से परिचित होंगे।

17-1 प्रस्तावना

युग परिवर्तन के साथ साहित्य की प्रवृत्तियाँ भी बदलती हैं। हिंदी साहित्य के आदि काल में राजा-महाराजाओं की वीरता का गुणगान किया गया है। सामंतवादी परिवेश में आम आदमी के सुख-दुख की चिंता से अधिक भक्तिकाल में आत्मा-परमात्मा के विचारों में रमकर समकालीन समस्याओं से आँख मूंदकर भगवान के गुणगान में ही अपने कृतित्व को सार्थक समझा। सामाजिक समस्याओं का चित्रण, निम्न एवं मध्यवर्गीय लोगों के सुख-दुख का परिचय इन रचनाकारों की रचनाओं में बिलकुल नहीं है लेकिन कुछ दलित संतों की रचनाओं में भगवान के गुणगान के साथ-साथ ऊँच-नीच भावनाओं का चित्रण जरूर मिलता है। हाँ इन दलित संतों को क्रांतिकारी तो नहीं कह सकते लेकिन

यह सुधारवादी जरूर है। संत रैदास और कबीर ने तो सामाजिक बुराइयों का खुले आम खंडन भी किया है।

आधुनिक काल में भी सामाजिक एवं धार्मिक विसंगतियों की ओर ध्यान देने वाले बहुत कम साहित्यकार मिलते हैं। हिंदी साहित्य में प्रेमचंद का आगमन एक परिवर्तनशील सूचना है। पहली बार साहित्य में सत्य का बोध होने लगा। दलितों के जीवन पर प्रेमचंद ने प्रकाश डाल कर उनके जीवन के नग्न सत्य को उजागर किया। कर्मभूमि, रंगभूमि, गोदान जैसे उपन्यासों में, ठाकुर का कुआँ जैसी कहानी में प्रेमचंद ने दलितों के प्रति हमदर्दी जतायी। उनकी दलित संवदेनाओं की रचनाओं से हिंदी साहित्य के परंपरागत रचनाकार चौंक पड़े। उन लोगों ने कल्पना तक नहीं की थी कि दलितों का अनुभव विश्व अवमानना, वंचना, उत्पीड़न का गुलामसदृश्य जीवन है। उनकी अपनी सांस्कृतिक विरासत है, उनके जीवन में भूख, वेदना और पीड़ा से अंतहीन संघर्ष है। प्रेमचंद ने दलित जीवन के यथार्थ को समाज के सामने खोलकर रखा। प्रेमचंद की इन रचनाओं को हिंदी साहित्य में नकारा गया, कहा गया कि यह अश्लीलता का चित्रण है, सदियों से हाशिये पर पड़े लोगों का चित्रण करके प्रेमचंद तहलका मचाना चाहते हैं, इसलिए प्रेमचंद के साहित्य को साहित्य दर्जा देने के लिए तथाकथित साहित्यकार राजी नहीं थे। दलित साहित्य को लेकर भी यह लिखा गया कि दलित साहित्य में पीड़ा और वेदना अधिक है और साहित्य कम, आक्रोश का कारण साहित्य नहीं होता, साहित्य का अपना सौंदर्य शास्त्र होता है, अपने साहित्यिक मानदंड होते हैं। 'खुद मरने तक खुदा नहीं मिलता' कहावत के अनुसार स्वयं बाबासाहेब आंबेडकर ने अपने अनुभवों को आत्मकथनात्मक रूप से अभिव्यक्त किया है जो भारतीय दलित आत्मकथनों की प्रेरणा बनी। मराठी की दलित रचनाएं रचनाकार के जीवन संदर्भों की सच्ची प्रस्तुतियाँ हैं। दलितों की सदियों की यातनाओं को, उनके ऊपर अनवरत होते आने वाले अन्याय, अत्याचारों का अत्यंत घृणात्मक प्रसंगों से खुलकर चित्रण करते हुए यह दलित साहित्यकार बल्कि एक प्रकार की आजादी अनुभव करते हैं, यह आजादी उन्हें इस जटिल समाज व्यवस्था को समझने परखने की मिली दृष्टि में है। आत्मानुभूति की रचनात्मक अभिव्यक्तियाँ दलित आत्मकथाएँ हैं। ये सभी आत्मकथाएँ 'मैं' शैली में ही लिखी जाती हैं। प्रामाणिक तौर पर आत्मकथनकार अपने जीवन की त्रासद प्रसंगों की सच्चाई को ही लिखते हैं, जिनमें वर्णित घटनाओं का वह स्वयं साक्षी होता है। मोहनदास नैमिशराय के आत्मकथन 'अपने-अपने पिंजरे' की भूमिका में डॉ. महीप सिंह करते हैं कि - 'यह विधा कई बार ऐसी नंगी सच्चाई को प्रकट करने का साहस माँगती है, जो भारतीय (संभ्रांत) चरित्र में बहुत कम संभव है बल्कि होता भी यही, रहा है। इस तथ्य को अन्य आत्मकथनों जैसे हरिवंशराय बच्चन की 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' गाँधी जी की 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग' में देखा जा सकता है। 'मि कसा झालो' (मैं कैसे बना) से मराठी दलित आत्मकथनों की शुरुआत मानी जाती है। उसके बाद दया पवार की 'बलूत' प्र.ई. सोनकांबले की 'यादों के पंछी' शरणकुमार लिंबाले की 'अक्करमाशी' लक्ष्मण गायकवाड की 'उठाईगीर' प्रमुख रूप से चर्चा के केंद्रबिंदु है। बेबी कांबले की 'जीवन हमारा', शांताबाई कांबले की 'मेरे जीवन की चित्रकथा' मुक्ता सर्वगौड़ की 'बंद दरवाजे' और कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' आत्मकथाएँ पाठकों पर अपनी अमिट छाप छोड़ चुके हैं। नवें दशक में दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि के आत्मकथन 'जूठन' के छप जाने से हिंदी साहित्य जगत एक बार चौंक पड़ा था।

17-2 आत्मकथन का परिचय

आत्मकथन की सहज एवं सरल परिभाषा है 'आत्मा की सत्यकथा' अर्थात् मनुष्य अपने जीवन की यथार्थ तथा सत्य घटना पर आधारित कथा जो स्वयं अपने अनुभवों को ईमानदारी से रेखांकित करता है। इसमें चित्रित ज्यादातर घटनाएँ निजी होती हैं। आत्मकथन में कल्पना का कोई अस्तित्व नहीं होता।

डॉ. वीरभारत तलवार के अनुसार पंडित जवाहरलाल नेहरू द्वारा लिखित 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' कृति को ही आत्मकथा माना जाता है जो बिल्कुल ठीक नहीं है क्योंकि इससे पहले 15वीं शताब्दी में बनारसीदास जैन ने 'अर्ध कथानक' नामक आत्मकथा लिखी थी। इसके अलावा आधुनिक हिंदी साहित्य में डॉ. श्यामसुंदरदास ने सबसे पहले अपनी आत्मकथा लिखी। हिंदी साहित्य के अनेक विद्वानों का मानना है कि 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' आत्मकथा न होकर एक ऐतिहासिक दस्तावेज है।

मनुष्य के अनुभवों को अभिव्यक्त करने का यह एक मात्र साहित्यिक माध्यम है जिसे आत्मकथन कहते हैं। इसलिए आत्मकथनकारों ने अपने अनुभवों तथा जीवन के सुख-दुख से भरी घटनाओं का निरूपण करने के लिए इस विधा को ही अपनाया। इसीलिए आत्मकथन वास्तविकता पर आधारित गद्य-विधा है। काव्य और कथा-साहित्य में कल्पना का बड़ा महत्व है। लेकिन आत्मकथा में कल्पना नहीं भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति का गुणात्मक महत्व है। अपने जीवन की कथा को निर्वैयक्तिक होकर ज्यों का त्यों कह देना आत्मकथा की अनिवार्य शर्त होती है। आत्मकथन का 'आत्म' संकीर्ण आत्मभर नहीं है। उसका विस्तार पूरे समाज में होता है। व्यक्ति के गठन का, उसे संस्कारित करने का काम समाज ही करता है। इसलिए कोई 'आत्मकथन' लेखक की केवल निजीकथा नहीं होती, वह 'आपबीती' के साथ जगबीती भी होती है बल्कि लेखक की सर्जनात्मकता का निखरा हुआ साक्ष्य बनी रहती है।

आत्मकथन दलित जीवन के उस सत्य को भावी पीढ़ी के समक्ष रखना चाहता है, जिसे अन्यायपूर्ण जाति विषमता ने उसके पूर्वजों पर थोपा था। इस इतिहासबोध से जगी मुक्ति चेतना द्वारा मनुष्य में भावबोध जगाने का ही यह प्रयास है।

17-3 हिंदी दलित आत्मकथन की पृष्ठभूमि

मराठी दलित साहित्यकार शंकरराव खरात अपने आत्मकथन 'तराल अंतराल' में कहते हैं कि 'वास्तव में यही मेरे जीवन की कहानी है। उनके साथ-साथ यह एक 'स्टोरी ऑफ दी अनटचेबल' है। मेरे साथ मेरे समाज की भी कहानी उतर आती है। एक व्यक्ति, एक समाज, एक गाँव के मानसिक, वैचारिक और सामाजिक जीवन में घटी हुई जीवन की कहानी है। इसके अतिरिक्त अपना समाज, अपनों को कैसे छलता है, इसका यथार्थ वर्णन मराठी दलित आत्मकथन 'मुकाम पोस्ट देवाचे गोठने' में माधव कोंडविलकर ने किया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के आत्मकथन 'जूठन' में जीवन के सारे त्रासद प्रसंगों का बेझिझक चित्रण किया गया है।

समग्र रूप से भारत के धार्मिक संकीर्णता का अध्ययन करने के लिए दलित आत्मकथन बहुआयामी स्रोत के रूप में उपक्रम सिद्ध हुए हैं। इसलिए इन आत्मकथनों का समाज शास्त्रीय अध्ययन किया जा सकता है। इन आत्मकथनों का मुख्य उद्देश्य यह है कि अस्पृश्यता तथा गैर-बराबरी को मिटाने के लिए सदियों से चलाये जा रहे संघर्ष को जारी रखना है। तमाम आत्मकथनों में अभिव्यक्त दलितों का जीवन अत्यंत त्रासदी भरा है।

भारतीय भाषाओं में लिखे लगभग सभी दलित आत्मकथनों में सामाजिक अपमान को सहने के प्रसंग दर्शाते हैं कि यहाँ की व्यवस्था में जैसे यह एक सामान्य बात है। दिन-रात काम करने वाला यह श्रमिक वर्ग चोरी करके नहीं काम करके पेट भरना चाहते हैं, धर्मग्रंथों ने श्रम से जुड़े सभी कार्य तथा उसमें संलग्न श्रमिक वर्ग को शूद्र की श्रेणी में रखा है। इसी कारण यह श्रमिक वर्ग जो अछूत की श्रेणी में भी आता है को आर्थिक उत्पादन क्षेत्र से बहिष्कृत रखा गया है तथा मात्र श्रम पर आजीविका के लिए सवर्णों पर निर्भर भी।

किसी ब्याह में बिन-बुलाये मेहमान की तरह हाजिर होकर भोजन के लिए तरसते, भीख माँगने या चोरी करने जैसे प्रसंग और किसी विवाह में भोजन मिलने की आशा लगाए इंतजार करना और अंत में भोजन न मिलने पर स्त्रियों, बच्चे समेत भूखे पेट सो जाना-ये इन आत्मकथनों में आने वाले सहज एवं सामान्य दृश्य हैं। प्रतिभा के कारण प्राप्त चाँदी के मेडलों-इनामों को बेचकर पेट की भूख मिटायी जाने के त्रासद अनुभव हैं।

मनुष्य अपने जीवन में, समाज में मुक्त एवं स्वतंत्र है तो वह उतना ही अधिक सृजनशील होता है गुलामी मनुष्य को निर्बल बनाती है। शोषित हमेशा अपनी मेहनत द्वारा समाज के वास्तविक शिल्पी होने पर भी उनके जीवन में सुख, शांति, संतुष्टि और तसल्ली का प्रवेश कभी नहीं होता। ऐसी अमानवीय, असंघटित व्यवस्था ने भारत में परदेशियों के प्रवेश के लिए आसान रास्ता बनाया। दलित आत्मकथनों में अपमानित जीवन, दरिद्रता, क्षोभ तथा विद्रोह के चित्र इन्हीं कारणों से दृष्टिगत होते हैं।

17-4 दलित आत्मकथन का विकास

हिंदी साहित्य में बनारसीदास जैन की 'अर्ध कथानक' रामविलास शर्मा की 'अपनी धरती अपने लोग' 1985 में प्रकाशित शिवपूजन सहाय की 'मेरा जीवन' पांडेय बैचन शर्मा की 'अपनी खबर' नंददुलारे वाजपेयी की 'स्टैंड' आदि आत्मकथन हिंदी साहित्य में उल्लेखनीय हैं। इन आत्मकथनों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि आत्मकथाकारों ने अपने आप का वैभवीकरण किया है। आत्मकथन में 'मैं' का प्रयोग तो होता है लेकिन पूरी रचना 'मैं' के केंद्र में ही घूमती है, लेकिन दलित आत्मकथन व्यक्तिकेंद्रित होने पर भी-मैं प्रमुख न होकर-समाज, परिवेश, संस्कृति, इतिहास, समाज के लोग, उनका बड़प्पन, उनकी कमजोरी, उनकी भाषा प्रमुख होने के कारण समाज का एक अभिन्न अंग बनकर 'मैं' उभरकर आता है। इसलिए अन्य आत्मकथाकारों की तरह सत्य छुपाकर असत्य को अभिव्यक्ति देने की जरूरत ही दलित आत्मकथनाकार को महसूस नहीं होती क्योंकि अपने समय की यथार्थ अभिव्यक्ति के कारण से ही दलित आत्मकथनों का अपना सामाजिक महत्व है। इसलिए जिन सामाजिक मूल्यों को छुपाकर झूठे मूल्यों को बखानने में जो आत्मकथाकार संतुष्टि का एहसास करते हैं वह स्वान्त-सुखाय रचनात्मक-प्रयास दलित आत्मकथनकारों से कोसों दूर खड़ा है। 1995 में मोहनदास नैमिशराय का आत्मकथन 'अपने-अपने पिंजरे' पुस्तकाकार में छपकर आई। 1997 में ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' का प्रकाशन हुआ। इन जोखिमपूर्ण कार्य को यह लोग कर क्यों रहे हैं? जब शरणकुमार लिंबाले की पत्नी यह प्रश्न करती है कि यह सब लिखने से क्या फायदा? 'तुम क्यों लिखते हो? कौन अपनायेगा हमारे बच्चों को?' अथवा ओमप्रकाश वाल्मीकी की पत्नी उनके सरनेम को लेकर कहती हैं कि 'हमारे कोई बच्चा होता तो मैं इनका सरनेम जरूर बदलवा देती'! तब यह समस्या कितनी गंभीर है? यह सोचने की जरूरत है। लिंबाले जी कहते हैं 'फिर भी मैं लिखता हूँ। यह सोचकर कि जो जीवन मैंने जिया यह सिर्फ मेरा नहीं है। मेरे जैसे हजारों, लाखों का जीवन है।

दलित आत्मकथनों से मुख्य प्रेरणा यहाँ मिलती है कि जिस अमानवीय जीवन को जिया और उन लाखों यंत्रणाओं को सहना पड़ा, फिर भी वह यहाँ तक पहुँचा। आत्मकथन दलित

लेखकों को अदम्य जीवन संघर्ष के साथ आगे बढ़ने का संदेश देती हैं क्योंकि वे बताना चाहते हैं कि जो नारकीय और दासतापूर्ण जीवन हमें मिला, उसमें व्यक्ति विशेष का अपराध नहीं है। दलित आत्मकथाएँ व्यवस्था परिवर्तन की माँग भी करती हैं। कुछ संकटमय प्रसंग यह भी है कि इनके प्रकाशन से कुछ दलितों को लगा कि दलितों का अपमान करने के लिए यह रचना की है क्योंकि इन आत्मकथनों में अपनी जाति के खोखलेपन को समाज के सामने खोलकर, हमारी इज्जत का हवन किया गया, इसे अपने कौम से बहिष्कृत किये जाने की धमकी भी दी गई। यह वेदना सामाजिक अभिव्यक्ति न बनती तो 'पुनर्चना' कैसे हो सकती थी? अपने जनसमुदाय की सामाजिक स्थितियों में अपने स्वयं के दोषों को ढूँढना एवं उन दोषों से कैसे विमुक्त हो सकते हैं। इसकी गवेषणा है। अपने-अपने सांप्रदायिक विश्वासों तथा दूसरे समुदायों के बारे में अपनाये गये अनुमान, निकम्मेपन का रचनाओं में खुले आम चित्रण किया गया है। परस्पर भेद-भाव और अछूतपन इन लोगों में आपस में आज भी है, इस आपसी छुआछूत को दलित लेखकों ने अस्वीकार करते हुए कहा है कि यह तो जाति प्रथा की विशेषता ही है कि वह सबसे निचले तबके पर भी अपना प्रभाव डालती है। मोहनदास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे' ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन', माताप्रसाद की 'झोपड़ी से राजभवन तक', कौशल्या बैसंत्री के 'दोहरा अभिशाप', 'डी.आर.जाटव का 'मेरा सफर मेरी मंजिल, सूरजपाल चौहान का 'तिरस्कृत शौराज सिंह बेचैन का 'कंधों पर बचपन', भगवानदास का 'मैं भंगी हूँ', एन.आर.सागर का 'जब मुझे चोर कहा, जयप्रकाश कर्दम का 'मेरी जात' महत्वपूर्ण हैं। उपर्युक्त आत्मकथनों में लेखक तमाम विरोधी परिस्थितियों में अदम्य जिजीविषा और जीवन संघर्ष की झलक दिखाते हैं।

'जूठन' आत्मकथन

वरिष्ठ दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि ने आत्मकथन का आरंभ प्राथमिक विद्यालय में पढ़ते समय उनके साथ उसके सवर्ण शिक्षक द्वारा मिली प्रताड़ना, अपमान और तिरस्कार पूर्ण व्यवहार के प्रसंग से किया है। शिक्षित होकर भी व्यक्ति जातिभेद की भावना से मुक्त नहीं होता। द्रोणाचार्य की परंपरा में विश्वास करने वाले सवर्ण शिक्षक आज एकलव्यों को सरकारी शिक्षा संस्थानों में शिक्षा ग्रहण करना दुर्लभ कर देते हैं। यह आत्मकथन संकेत करती है कि वाल्मीकि समुदाय के बहुत से बच्चे शिक्षक के रौद्र रूप से भयभीत होकर पाठशाला ही छोड़ देते हैं।

छात्रों को पढ़ाने से अधिक उन्हें मारने, पीटने में लगे शिक्षकों की संख्या आज भी कम नहीं है। ओमप्रकाश जैसे बच्चे माता-पिता की जागरूकता व स्वयं की पात्रता के कारण ही इतने दमन के बावजूद पढ़ जाते हैं। छात्र ओमप्रकाश से तो हेड मास्टर ने पहले दिन से ही स्कूल के लंबे चौड़े प्रांगण में दो दिन तक झाड़ू लगावाई थी। तीसरे दिन वह बालक चुपके से कक्षा में कुछ सीखने के लिए बैठ जाता है। यहाँ शिक्षक का कुटिल रूप उन्हीं के द्वारा कहे गए शब्दों में देखें तो बेहतर होगा, 'अबे चूहड़े के मादरचोद कहाँ घुस गया... अपनी माँ का। उनकी दहाड़ सुन कर मैं थर-थर काँपने लगा था। एक त्यागी लड़के ने चिल्लाकर कहा, 'मास्साब वो बेटा है कोणे में।' हैडमास्टर ने मेरी गर्दन दबोच ली थी। उनकी उँगलियों का दबाव मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को उठा लेता है। कक्षा से बाहर खींचकर उसने मुझे बरामदे में ला पटका। चीख कर बोला, 'लगा पूरे मैदान में झाड़ू ...नहीं लगाई तो गाँड में मिर्चा डाल के बाहर काढ (निकल) दूँगा।' (पृ.15)

तथाकथित सवर्ण व स्पृश्य शिक्षक दलितों पर हाथ उठाते समय अस्पृश्यों के प्रति घृणा को ही व्यक्त करते हैं। सभी छात्रों से स्कूल की सफाई करायी जाए तो स्वीकार्य है किन्तु

यहाँ तो बेगारी ही थी। यह अछूत होने की सजा थी। अधिकांश गाँव में यह स्थिति अभी भी बदली नहीं है। जाति भावना से ग्रसित अध्यापक ही अछूत बच्चों को स्कूलों में दाखिला देने में आनाकानी करते हैं। छात्र ओमप्रकाश द्रोणाचार्य नामक पाठ पढ़ाये जाने के दौरान अपने मन में उठे प्रश्न को अध्यापक से पूछ बैठता है। जो विद्यार्थी का एक अधिकार है। 'अश्वत्थामा को दूध की जगह आटे का घोल पिलाया गया और उस पर महाकाव्य रचा गया। हमें चावल का मांड पिलाया जाता रहा है फिर किसी महाकवि ने हमारे जीवन पर एक शब्द भी क्यों नहीं लिखा' यही प्रखर तर्क ज्ञान जो उस शिक्षा के स्तर से आगे का प्रश्न करते बालक ओमप्रकाश को आगे चलकर दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि बना देता है। मास्टर साहब चीख उठते हैं, क्योंकि दलितों को प्रश्न करने का अधिकार भी इस वर्ग ने अपने निहित स्वार्थों के चलते छीन लिया था। 'द्रोणाचार्य से अपनी बराबरी कर रहा है। ले तेरे ऊपर मैं महाकाव्य लिखूँगा।' मास्टर सटाक-सटाक छड़ी से बालक ओमप्रकाश की पीठ पर महाकाव्य रच देता है। पत्रकार कंवल भारती कहते हैं कि 'यह आत्मकथन वास्तव में पीठ पर अंकित महाकाव्य ही है, जो मास्टर ने नई व्यवस्था को अंकित किया है। यह व्यवस्था सवर्ण दलितों के लिए स्वर्ग और के लिए नरक का निर्माण करती है।'

शिक्षकों द्वारा दलित छात्रों के साथ उत्पीड़न के कठोर यातना क्रम प्राथमिक स्कूलों से ही शुरू हो जाते हैं। बड़ी कक्षा में पहुँचने पर उत्पीड़न व भेदभाव के रूप बदल जाते हैं। अस्पृश्यता शारीरिक रूप से हटकर बौद्धिक व मानसिक रूप ग्रहण कर लेती है। बृजपाल सिंह जैसे अध्यापक दलित छात्रों को प्रैक्टिकल में कम अंक देकर फेल करते रहे हैं भविष्य को अधर में लटकाते हैं। क्या इसका कारण शिक्षक का अविकसित मस्तिष्क है या अपनी यथा-स्थितिवादी व्यवस्था के समाप्त होने और कथित उच्चवर्णों के वर्चस्व के कम हाने से भयभीत होना है? कारण अनेक हो सकते हैं एक तो यह कि जब वह अपने अधीन वर्ग की स्थिति बदलते देखते हैं, तो स्वार्थ व ईर्ष्या वश हर स्तर पर अनुदार व्यवहार करने लगते हैं। यह ऐसी समाज व्यवस्था है जिसमें ज्ञान की दिशा में बढ़ते कदमों को रोककर जाति अंतर्गत भेदभाव को कायम रखकर उससे मिलते रहने वाले लाभ न छोड़ने का मोह है। क्रूर व्यवहार में परिवर्तन नहीं आने से शिक्षकों के भेदभावपूर्ण रवैये के कारण दलित छात्रों का पाठशाला से बाहर होने का प्रमाण बहुत अधिक है। कायदे कानून सब कमजोर पड़ जाते हैं और जातिगत संस्कारों की पकड़ बढ़ती जाती है। जिससे उच्च शिक्षा संस्थानों में दलितों की भागीदारी पर निश्चित तौर पर प्रभाव पड़ता है। शिक्षा में राष्ट्रीय आरक्षण नीति लागू नहीं होती है, वहाँ दलित शिक्षकों की संख्या शोचनीय हद तक नगण्य हो जाती है। वहाँ भागीदारी का लोकतांत्रिक तत्व व्यवहारतया समाप्त है, बल्कि योग्यता शर्तों को पूरा न करने के बावजूद अनारक्षित उम्मीदवार को ही वरीयता है। स्वतंत्रता के 63 वर्षों के बाद भी यह स्थिति शोचनीय बनी हुई है, क्योंकि वाल्मीकि के बचपन के प्राइमरी पाठशाला के अध्यापकों के दलित छात्रों के साथ किए जाने वाले अमानवीय व्यवहार में परिवर्तन नहीं के बराबर आया है। जिससे समतामूलक समाज निर्माण के हक में परिवर्तन की प्रक्रिया थम गई है।

वाल्मीकि के पिता की भाँति जो लोग बच्चों की शिक्षा के प्रति सजग नहीं है, उनके बच्चों का भविष्य अंधेरे में ही खो जाने की संभावनाएँ होती हैं। गाँव के अन्य समुदाय दलित बच्चों के भविष्य के प्रति अनुदार रवैया रखते हैं तथा उनकी किसी भी तरह से सहायता नहीं करते। उत्तर प्रदेश के गाँव में हुई घटना का जिक्र यहाँ करना जरूरी लगता है। हाल ही में सर्व शिक्षा अभियान को मध्यान्ह भोजन योजना के अंतर्गत दलित महिला द्वारा तैयार किए गए भोजन अपने बच्चों को खिलाए जाने का तथाकथित सवर्ण अभिवावकों ने विरोध किया। मुख्याध्यापक पर दलित महिला कर्मचारी को हटाने का दबाव बनाया। इतना ही नहीं

बच्चों का धर्मभ्रष्ट किए जाने का आरोप लगाकर उन्हें स्कूल से हटाने की धमकी तक दे डाली। आधुनिक समय में धर्मभ्रष्ट होने अथवा किए जाने जैसे जातिगत भेदभाव को बढ़ावा देने तथा नन्हें बालकों के मन में जाति के जहर को उतारने का यह प्रयास है। प्रसंग ध्यातव्य है कि जब छात्र ओमप्रकाश के पिता उस समय अचानक रास्ते से गुजर रहे थे। तब उन्होंने स्कूल के प्रांगण में अपने प्रिय बच्चे को शिक्षा ग्रहण करने के बजाय झाड़ू लगाते देखा, जो उनकी आशा के विपरीत था उनके क्रोधित होने का यह एक उचित कारण था। अतः उनका गुस्से में भर कर भभक उठना स्वभाविक घटना थी। इस आवेश में शत्रु का सामना किया। आत्म कथाकार ने उनके शब्दों को स्मरण करते हुए लिखा है 'देखें कौण सा द्रोणाचार्य की औलाद जो मेरे लड़के से झाड़ू लगवावे है ' (पृ. 16)

एक प्रसंग में अपने बच्चे की शिक्षा की खातिर स्वाभिमानी पिता ने प्रधान के सामने गिड़गिड़ा कर विनती करना भी बुरा नहीं माना। जबकि उन्होंने बड़े बेटे की शादी में सलाम प्रथा का विरोध किया था। इस प्रथा में वर वधू को ससुराल में अपनी अपनी सास के साथ सलाम करने वहाँ-वहाँ जाना पड़ता। जहाँ-जहाँ उनकी सास सफाई का काम करती है। वास्तव में यह परंपरा के नाम पर नव विवाहिताओं के मनोबल को तोड़ने के लिए सोच समझ कर रची गई साजिश थी, जिससे इन लोगों में भीख माँगने की प्रवृत्ति बनी रहे और स्वयं को दूसरों से हीन समझते रहें।

कथाकार सूरजपाल चौहान का आत्मकथन 2002 में प्रकाशित हुई है। यह आत्मकथन जूठन के समान लेखक के जीवन संघर्ष से परिचय कराती है। जातीय उत्पीड़न की मार्मिक घटनाएँ व्यथित करती हैं। जूठन में आया प्रसंग बालक ओमप्रकाश के साथ अध्यापक द्वारा जाति के ओछापन दिखाने की घटनाएँ। यहाँ भी अध्यापक उसी रूप में दलित छात्र का रास्ता रोके खड़े हैं। तिरस्कृत का सबसे संवेदनशील पहला अध्याय है। जो आत्म कथाकार की माँ से संबद्ध है। इस अध्याय में प्रमुख बात यह है कि लेखक के बचपन का यह पहला पन्ना है जिसको पढ़कर उनके बचपन को समझ सकते हैं। जिसमें अशिक्षा, अंधविश्वासों, रूढ़ियों और ओझा, में विश्वास के कारण लेखक अपनी माँ से असमय बिछुड़ जाता है। उसके बाद कष्टों का पहाड़ मानों उस पर टूटता है। यही से शुरू होती है उनके नए जीवन की शुरुआत जब पिता उनको अपने साथ दिल्ली ले आते हैं।

अरुणाचल प्रदेश के राज्यपाल रह चुके श्री माता प्रसाद जी का आत्मकथन 'झोंपड़ी से राजभवन तक' शीर्षक के अनुसार 'झोंपड़ी से राजभवन तक' से सहज ही ध्वनित होता है कि लेखक को विरासत में राजभवन नहीं मिला, उनका स्वयं का यह संघर्ष है। पुस्तक में अत्यंत महत्वपूर्ण अध्याय 'दलित जीवन के दर्द हैं' जिससे महत्वाकांक्षी साधनहीन, अभावग्रस्त युवक-युवतियाँ को संघर्ष करने की प्रेरणा मिलती है। मेहनत, संघर्ष से जीवन को सुन्दर बनाया जा सकता है।

हालाँकि 'झोंपड़ी से राजभवन तक' साहित्यिक रचना कम राजनैतिक ज्यादा हो गई है। यदि राजनीति हावी न रहती और वोटों की चिंता प्रमुख नहीं होती तो आत्मकथन अधिक सफल होता। डी.आर.जाटव का आत्मकथन मेरा सफर मेरी मंजिल एक सतत् अध्येता और शोधार्थी के नोट्स हैं। जिसमें जीवन विवरण भी कम महत्व का नहीं है।

17-5 ओमप्रकाश वाल्मीकि : व्यक्तित्व एवं j pukRed ; kx nku

ओमप्रकाश वाल्मीकि का जन्म 30 जून 1950 में उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर जनपद के बरला गाँव में हुआ है। एक निर्धन, भूमिहीन दलित परिवार का यह पहला शिक्षित व्यक्ति हैं। इनकी कालजयी रचना 'जूठन' में लेखक के जीवन का पूरा ब्यौरा दिया गया है। जिसे पढ़ने के बाद हमें लगता है कि देश के बहुसंख्यक दलितों की तरह वाल्मीकि को भी 'जनम

से भूख ने हैरान किया है। सामाजिक श्रेणी विभाजन के चलते और स्वार्थनिहित यथास्थितियों की कुटिलता ने भूख को दलित जीवन के साथ शाश्वत रूप में जोड़ दिया। जिन समस्याओं ने इस वर्ग को मुख्य रूप से परेशान किया था, वे अन्य वर्ग की समस्याएँ नहीं थी। अन्यवर्ग के लोगों के लिए अनावश्यक तर्क, वैभव, व्यवहार ही मुख्य थे, न कि निम्नवर्ग की ये समस्याएँ। उच्च वर्ग की दृष्टि में आदर्श के रूप में सतानेवाला, जीवन का नग्न सत्य है और नग्न सत्य यह है कि रोटी के टुकड़े को पाने के लिए दलित वर्ग को किस प्रकार अपमानित होना पड़ता है को ओमप्रकाश वाल्मीकि ने उनके अनुभवों की अभिव्यक्ति द्वारा एक विराट सत्य को उजागर किया है। 'सलाम', 'पच्चीस चौका डेढ़ सौ', 'बिरमू की बहू' और 'अम्मा' जैसी सशक्त कहानियों में नग्न सत्य के दर्शाया गया है। उनके आत्मकथन 'जूठन' का केंद्रबिंदु एक ओर भूख है, तो दूसरी ओर 'आत्मसम्मान' है। दलितों को हमेशा से सतानेवाली भूख के कारण अन्न के अभाव की पूर्ति के लिए बिल्ली, चूहे जैसे प्राणियों को मारकर खाते हैं यह उनके जीवन की विडंबना है कि अभक्ष भक्षण द्वारा जिंदा रहने का प्रयास करना पड़े। इसलिए यह कहना अनुचित नहीं होगा कि दलित आत्मकथनों का विश्लेषण, विशेष रूप से 'जूठन' का विश्लेषण एक दृष्टि से 'भूख की मीमांसा है।' भूख से छुटकारा पाना ही उन लोगों के लिए मानों 'स्वर्ग सुख' था। अपनी भूख के शमन के लिए ये चोरी की ट्रेनिंग लेने लगते हैं, चूहों को पालकर उनके द्वारा गेहूँ इकट्ठा करके, अपनी संतान की शादी करते हैं यह सब उनके लिए असहज, अस्वाभाविक, कार्य नहीं है।

समकालीन हिंदी साहित्य में ओमप्रकाश वाल्मीकि की सलाम कहानी स्रोतगत-विशेषता के लिए चर्चित है। डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने दलितों में जिस आत्मगौरव, आत्मसम्मान को जगाया था उस चेतना से प्रेरित शिक्षित दलित युवक अपनी शादी के बाद, पत्नी को साथ लेकर गाँव के त्यागी साहूकारों के दरवाजे पर जाकर बक्शीस माँगने से इनकार कर देता है। उनको लगता है कि है 'बक्शीस' नहीं 'भीख' मांग रहे हैं और मुझे भीख नहीं चाहिए। आत्मसम्मान की यह छोटी सी चिनगारी 'जूठन' में आग बन गयी है। इस तरह वाल्मीकी के पूरे रचना संसार में भूख का चित्रण दलित जीवन की त्रासदी को अभिव्यक्ति देता है। लेकिन भूख का शमन करने के लिए 'जूठन' के सहारे आत्मगौरव को कभी गिरवी नहीं रखते चाहे वह भूखे मरें। अपने रचनागत संकट को लेकर स्वयं लेखक लिखते हैं कि "इन अनुभवों को लिखने में कई प्रकार के खतरे थे। एक लंबी जट्टोजहद के बाद, मैंने सिलसिलेवार लिखना शुरू किया। तमाम कटों, यातनाओं, उपेक्षाओं, प्रताड़ना को एक बार फिर जीना पड़ा, उस दौरान गहरी मानसिक यंत्रणाएं मैंने भोगी स्वयं को परत-दर-परत उधेड़ते हुए कई बार लगा कितना दुःखदायी है यह सब। कुछ लोगों को यह अविश्वसनीय और अतिरंजनापूर्ण लगता है" ...

(लेखक की ओर से - जूठन)

17-6 'जूठन' की कथावस्तु

'दलित - जीवन की पीड़ाएँ असहनीय और यातनाओं से भरी हैं। ऐसे अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए साहित्य की 'आत्मकथन' विधा ही सर्वथा उपयुक्त है। एक दलित लेखक ऐसी समाज-व्यवस्था में सांसे लेता है जो 'बेहद क्रूर और अमानवीय है, दलितों के प्रति असंवेदनशील भी।' इसलिए दलित लेखक उपन्यास-लेखन के बजाय आत्मकथन लिखने के लिए उन्मुख होते हैं। ओमप्रकाश की 'जूठन' आत्मकथन इन्हीं सब कारणों से प्रेरित होकर लिखी गयी है। हालांकि किसी भी लेखक के लिए अपने जीवनानुभाव लिखना कम नहीं है। क्योंकि उसे दोहरी मानसिक यन्त्रणाओं से गुजरना पड़ता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी आत्मकथा की रचना-प्रक्रिया के बारे में स्पष्ट लिखा है कि 'अपनी

व्यथा-कथा के शब्दबद्ध करने का विचार काफी समय से मन में था। लेकिन प्रयास करने के बाद भी सफलता नहीं मिली थी। कितनी ही बार लिखना शुरू किया और हर बार लिखे गए पन्ने फाड़ दिये। कहाँ से शुरू करूँ और कैसे? यही दुविधा थी। कुछ मित्रों की राय थी, आत्मकथन की बजाय उपन्यास लिखो। (लेखक की ओर से ...) इस प्रकार वे अपने दलित जीवन की पीड़ाओं, यन्त्रणाओं, उपेक्षाओं और दुःखों को 'आत्मकथन' में अभिव्यक्त कर सकते थे। 'जूठन' उनके इन्हीं जीवनानुभवों की सृजनात्मक उपलब्धि है। दलित आत्मकथनों की सबसे बड़ी विशेषता और उपलब्धि यही है कि उसमें उनके लेखकीय जीवनानुभव सच्चे और प्रामाणिक रूप से अभिव्यक्ति पाते हैं।

आत्मकथन की शुरुआत मुजफ्फरनगर जिले के बरला गाँव की जोहड़ी के किनारे बने उस ने एक चूहड़े परिवार के मकान से होती है जिससे ओमप्रकाश वाल्मीकी का जन्म हुआ था। एक ओर सवर्ण तगाओं के मकान हैं तो दूसरे किनारे दलितों के मकान और मकानों के पीछे गाँव भर की जवान-बूढ़ी औरतों का खुला शौचालय है जहाँ वे गोलमेज कान्फ्रेंस की शक्ति में बैठकर गाँव-गली के लड़ाई-झगड़ों की चर्चा करती हैं। इस तरह चारों तरफ गंदगी भरी होती है। ऐसी दुर्गन्ध उठती है कि मिनट भर में साँस घुट जाय। उनकी तंग गलियों में सुअर और कुत्तों के साथ नंग-धड़ंग बच्चे घूमते हैं। वर्णव्यवस्था को आदर्श कहने वाले सवर्णों को यदि 'दो-चार दिन रहना पड़ जाय तो उनकी राय बदल जाए।' ऐसे माहौल में ओमप्रकाश वाल्मीकी का बचपन बीता था जिसकी याद में भरी कड़वी सच्चाइयाँ उनके जेहन में अब तक मौजूद हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकी के गाँव में कुछ मुसलमान त्यागी परिवारों को छोड़कर बाकी हिन्दू तगा ही रहते थे। मुसलमान और हिन्दू तगाओं का दलितों के प्रति एक जैसा व्यवहार था। क्योंकि उन्हें दो जून रोटी के लिए तगाओं के घरों में साफ-सफाई से लेकर खेती-बाड़ी और मेहनत-मजदूरी के सभी काम करने पड़ते। ऊपर से रात बेरात बेगार करनी पड़ती थी जिसके बदले में 'कोई पैसा या अनाज नहीं मिलता था। अगर बेगार करने से इन्कार किया तो फिर गाली-गलौच के साथ-साथ प्रताड़ना भी झेलनी पड़ती। सवर्ण दलितों को यदि वह उम्र में बड़ा होता तो 'ओ चूहड़े' बराबर या उम्र में छोटा हो तो 'अबे चूहड़े के' यही तरीका था संबोधन का।' (जूठन - 22) यह जाति व्यवस्था के कारण उत्पन्न 'अस्पृश्यता का ऐसा माहौल कि कुत्ते-बिल्ली, गाय, भैंस को छूना मना नहीं था लेकिन यदि चूहड़े का स्पर्श हो जाए तो पाप लग जाता था' वे सिर्फ उपभोग की वस्तु थे कि काम लिया और फेंक दिया। पूरे भारत में दलितों की ऐसी ही सामाजिक-आर्थिक स्थिति थी।

आजादी से पहले ईसाई मिशनरियों ने पहले-पहल दलितों के लिए शिक्षा के द्वार खोले जिसकी वजह से दलितों में शिक्षा के प्रति जागरूकता आई थी। शहरों के अलावा गाँव-कस्बों में भी ईसाई मिशनरियों ने स्कूल खोले भले ही उनमें अक्षर ज्ञान ही कराया जाता था। बालक ओमप्रकाश को मोहल्ले के एक ईसाई सेवकराम मसीहि के बिना कमरों ओर बिना टाटपट्टी वाले खुले स्कूल में दलितों के अन्य बच्चों के साथ प्रारम्भिक शिक्षा के रूप में पहले-पहल अक्षरज्ञान हुआ। फिर पिताजी से खटपट होने पर गाँव के ही बेसिक प्राइमरी स्कूल में भर्ती कराया गया उसके पिताजी शिक्षा का महत्व समझते थे, इसलिए मास्टर हरफूलसिंह के सामने गिड़गिड़ाकर कहा था, "मास्टर जी, थारी मेहरबानी हो जागी जो म्हारे इस जाकत (बच्चा) कू बी दो अक्षर सिखा दोगे।"

यह उस समय की बात थी जब देश को आजाद हुए आठ साल हो गए थे और सरकारी स्कूलों के द्वार अछूतों के लिए खुलने शुरू तो हो गए थे, लेकिन जन सामान्य की मानसिकता में कोई विशेष बदलाव नहीं आया था। दलितों को स्कूल में दूसरे सवर्ण बच्चों से दूर और अलग जमीन पर बैठना पड़ता था और कभी-कभी एक दम पीछे दरवाजे के

पास जहाँ से बोर्ड पर लिखे अक्षर धुंधले दिखते थे और उस पर त्यागियों के बच्चों के द्वारा 'चूहड़े' कहकर चिढ़ाना और बिना कारण पिटाई कर देना आम बात थी। अगर कभी वे नये साफ-सुथरे कपड़े पहन कर स्कूल आते तो सवर्ण लड़के उन पर फब्तियाँ कसते, 'अबे चूहड़े का, नये कपड़े पहनकर आया है।' और अगर मैंने-पुराने कपड़े पहनकर स्कूल आते तो कहते, 'अबे चूहड़े के' दूर हट बदबू आ रही है।' उन्हें इन दोनों ही स्थितियों में अपमानित होना पड़ता था। ओमप्रकाश वाल्मीकि बचपन की उन यातनाओं और अपमान से भरे दिनों के बारे लिखते हैं कि यह अजीब-सी यातनापूर्ण जिंदगी थी जिसने मुझे अंतर्मुखी और अपमान से चिड़चिड़ा, तुनकमिजाजी बना दिया था। (पृ. 23) दलित समुदाय के लोगों का जीवन ऐसी ही सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों में बीतता है। ये परिस्थितियाँ उस ग्रामीण समाज की जातिवादी-संरचना पर अवस्थित होती हैं जिन्हें आजादी के इन पचास सालों में भी हम नहीं बदल पाए हैं।

आज भी किसी-न-किसी रूप में शिक्षा का ढाँचा ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी सामन्ती जड़े जमाए हुए हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि का यह आत्मकथन शिक्षा के सामन्ती चरित्र को बखूबी उद्घाटित करता है। अध्यापकों का आदर्श रूप अभी भी उनके स्मृतिपटल पर अंकित है कि जब कोई आदर्श गुरु की बात करता है तो उन्हें वे तमाम शिक्षक याद आ जाते हैं जो माँ-बहन की गालियाँ देते थे, सुंदर लड़कों के गाल सहलाते थे और उन्हें अपने घर बुलाकर उनसे वाहियातपन करते थे। जब ओमप्रकाश चौथी कक्षा में था तो हेडमास्टर बिशम्बर सिंह की जगह कालीराम आ गए तो ओमप्रकाश को खानदानी पेशे की याद दिलाई, ..वह जो सामने शीशम का पेड़ खड़ा है, उसे पर चढ़ जा और टहनियाँ तोड़ के झाड़ू बना ले। पत्तों वाली झाड़ू बनाना। और पूरे स्कूल कू ऐसा चमका दे जैसा सीसा। तेरा तो यो खानदानी काम है। जा..फटाफट लग जा काम पे।' दो दिन तक इसलिए झाड़ू लगाता रहा कि 'मन में एक तसल्ली थी कि कल से कक्षा में बैठ जाऊँगा।' पर जब तीसरे दिन वह कक्षा में चुपचाप जाकर बैठ गया तो हेडमास्टर कालीराम की दहाड़ सुनाई पड़ी, 'अबे, ओ चूहड़े के, मादरचोद कहाँ घुस गया..अपनी माँ.., तभी एक त्यागी के लड़के ने चिल्लाकर बताया 'मास्साब, वो बैठठा है कोणे में तो उन्होंने भेड़िये की तरह उसकी गर्दन दबोच कर बरामदे में लाकर पटक दिया और चिल्लाकर कहा, जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू..नहीं तो गांड में मिर्ची डाल के स्कूल से बाहर काढ़ (निकाल) दूंगा।' यह कौन से उच्च संस्कार हैं जो एक शिक्षक को ऐसा आचरण करने के लिए प्रेरित कर रहे थे? क्या यह सवर्ण मानसिकता नहीं थी जो जातिवाद के घेरे में बंद थी। भयभीत ओमप्रकाश ने पूरे स्कूल में रोते-रोते झाड़ू लगायी। स्कूल के पास से गुजरते हुए पिताजी ने देखा तो उनकी आँखों में नमी उतर आई और लम्बी-लम्बी घनी मूछें गुस्से में फड़फड़ाने लगीं - 'कौण-सा मास्टर है वो द्रोणाचार्य की औलाद, जो मेरे लड़के से झाड़ू लगवावे है..।' यह एक दलित का साहस और हौसला था कि हेडमास्टर की धमकी का कोई असर नहीं पड़ा, 'ले जा इसे यहाँ से चूहड़ा हो के पढ़ाने चला है.. जा चला जा ..नहीं तो हाड-गोड तुड़वा दूंगा तो अध्यापक के पेशे की कदर करते हुए चुनौती भरे स्वर में कहा मास्टर हो, इसलिए जा रहा हूँ..पर इतना याद रखिए, मास्टर ..यो चूहड़े का यहीं पड़ेगा...इसी मदरसे में और यो ही नहीं इसके बाद और भी आवेंगे पढ़ने कू। (पृ. 16) यह एक दलित का पूरी समाज-व्यवस्था के प्रति खुला विद्रोह था जो सदियों से अंतर्मन में खदबदाते लावे की तरह जमा हो रहा था और अवसर पाते ही फट पड़ा।

आत्मकथन में ऐसी अनेक घटनाएँ और प्रसंग हैं जो ब्राह्मणवादी पोषकों के जातिवादी चरित्र और उनकी परंपराओं और प्रथाओं के विरुद्ध विद्रोह का संकेत देती हैं। सुखदेव सिंह त्यागी की बेटी की बारात आई थी। हालांकि ऐसे मौकों पर मेहमान या बाराती खाना खा रहे होते चूहड़े दरवाजे के बाहर बड़े-बड़े टोकर लेकर बैठे रहते थे। टोकरों में डाली गई

जूठन चटखारे लेकर खाई जाती थी। बालक ओमप्रकाश अपनी माँ-बहन के साथ सुखदेव सिंह के दरवाजे पर बैठे थे। जब बारात खाना खाकर चली गयी तो माँ ने सुखदेव सिंह को बाहर आता देखकर कहा, "चौधरी जी, ईब तो सब खा-खाकर चले गए ...म्हारे जाकतों (बच्चों) कू भी एक पत्तल पर धर के कुछ दे दो। वो बी तो इस दिन का इन्तजार कर रे ते।" सुखदेव सिंह ने जूठी पत्तलों से भरे टोकरे की तरफ इशारा करके कहा, 'टोकरा भरा तो जूठन ले जा री है.. ऊपर से जातकों के लिए खाणा मांग री है? अपणी औकात में रह चूहड़ी। उठा टोकरा दरवाजे से और चलती बन।' त्यागी के वे शब्द ओमप्रकाश के सीने में चाकू की तरह उतर गए जिसकी जलन में आज तक झुलस रहे हैं। उस रोज माँ का स्वाभिमान जाग गया था और उसकी आँखों में दुर्गा उतर आई थी और टोकरा वहीं बिखेर का सुखदेव सिंह से कहा, "इसे ठाके अपने घर में धर ले। कल तड़के बारातियों को नाश्ते में खिला देणा।" त्यागी उस पर झपटा तो बिन डरे माँ ने शेरनी की तरह सामना किया और फिर "उसके बाद माँ कभी उसके दरवाजे पर नहीं गई और जूठन का सिलसिला भी उस घटना के साथ बन्द हो गया था।"

निश्चय ही इन घटनाओं से बालक ओमप्रकाश की चेतना में बदलाव आया होगा। कुशाग्र बुद्धि का वह अपने सेक्शन में प्रथम आया तो क्लास का मॉनीटर बना दिया गया, **लेकिन कुछ अध्यापकों का व्यवहार अभी तक ठीन नहीं था, उनके रवैये में प्रताड़ना और उपेक्षा का भाव निरंतर बना रहा।** इसलिए उसे स्कूल के सांस्कृतिक कार्यक्रमों से दूर रखा जाता था। इसके बावजूद उसमें आत्मविश्वास की कमी नहीं थी। पहली बार किसी दलित बालक ने साहस करके जिसे सवर्णों की दृष्टि में धृष्टता कहा जाएगा, **मास्टर जी के सामने द्रोणाचार्य के संबंध में एक सवाल किया था** कि अगर द्रोणाचार्य ने भूख से तड़पते अश्वत्थामा को दूध की जगह आटे का घोल पिलाया था तो 'हमें चावल का मांड।' फिर भी महाकाव्य में हमारा जिक्र क्यों नहीं आया? किसी महाकवि ने हमारे जीवन पर एक भी शब्द क्यों नहीं लिखा? मास्टर ने उसकी इस धृष्टता का जवाब उसे मुर्गा बनाकर चीखते हुए दिया, "चूहड़े के, द्रोणाचार्य से अपनी बराबरी करे ले..तेरे ऊपर मैं महाकाव्य लिखूंगा।" और फिर मास्टर जी ने उसकी पीठ पर सटाक-सटाक छड़ी से महाकाव्य रच दिया था जो आज भी "भूख और असहाय जीवन के घृणित क्षणों में सामन्ती सोच का यह महाकाव्य मेरी पीठ पर नहीं पर, मेरे मस्तिक के रेशे-रेशे पर अंकित है।" (पृ. 38)

दलितों ने इसे साक्षात् रूप में जीते-जी भोगा है। ग्रामीण जीवन की यह दारुण-व्यथा हिन्दी के महाकाव्यों में कभी अभिव्यक्त ही नहीं हुई। आभिजात्य साहित्यकार दलित जीवन के इस अकल्पनीय नरक तुल्य जीवन से रूबरू नहीं हुए। इसलिए सवर्ण साहित्य में नरक की सिर्फ कल्पना है जबकि दलितों ने इस नरक को जीवन में भोगा है। सवर्ण साहित्य और दलितों के साहित्य में यही मूलभूत अन्तर है। जहाँ उन्हें मरे हुए जानवर उठाने के लिए मजबूर किया जाता है। इसके बावजूद श्रम-साध्य काम के बदले मात्र गालियाँ मिलती हैं इस क्रूर समाज में श्रम का कोई मोल नहीं है बल्कि निर्धनता को बरकरार रखने का ही षडयंत्र किया जाता है और जातिवादी उपेक्षा, उत्पीड़न से बनाए रखने का सबसे बड़ा साधन है। इसलिए आजादी के साठ बाद भी जाति-व्यवस्था को किसी न किसी रूप में बनाए रखा गया है। ग्रामीण समाज व्यवस्था इसका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष पोषण करती है। मास्टर बृजपाल त्यागी के घर घटी घटना सवर्णों के तथाकथित रूप से माने गए उच्च संस्कारों की मानसिकता का वास्तविकता को सामने ला देती है। ओमप्रकाश अपने सहपाठी भिक्खूराम के साथ मास्टर बृजपाल त्यागी के गाँव से गेहूँ का कट्टा लेने जाता है जहाँ बुजुर्ग ने उनकी मेहमान की तरह खूब खातिर की, परन्तु जैसे ही उन्हें मालूम हुआ कि वे वाल्मीकि जाति के हैं तो उन दोनों को अश्लील गालियाँ देते हुए लाठी से मारने दौड़े कि उन्होंने उनके बर्तनों में आदर के साथ बैठकर खाना खाने और चारपाई पर बैठने

का दुःसाहस कैसे किया? इस तरह सवणों के "अतिथि - सत्कार का खोखलापन खुल गया था। अतिथि की जाति ही उसे आदर दिलाती है। वैसे भी आदर पाने का हमें अधिकार ही कहाँ था। सच बोल कर लाठी खाई, बेइज्जती हुई और जाति के नाम पर जो खरोंच मिली उन्हें भरने के लिए युग भी कम पड़ेगे।"

इन सामाजिक घटनाओं से उनके मन में गहरी वितृष्णा भर गयी थी। यह सन्धि की उस किशोरवस्था में मन पर एक खरोंच पड़ गयी जो काँच पर खींची लकीर की तरह आज भी यथावत् है। एक दलित लेखक की पीड़ा का अहसास उन्हें कैसे हो सकता था। जिन्होंने घृणा द्वेष की बारीक सुइयों का दर्द अपनी त्वचा पर कभी महसूस नहीं किया? जिन्हें अपमान नहीं भोगना पड़ा, वे अपमान-बोध को कैसे जान पाएँगे? और जिस्म पर अपमान की सर्द लकीरे पाने वाले ओमप्रकाश को "कभी-कभी लगता है जैसे और आदिम सभ्यता में सांस लेकर पले-बढ़े हैं।" इस स्थितियों ने विरोध को जन्म दिया था। परीक्षा के समय में फौजा त्यागी के खेत में बेगार करते वक्त भी जातिगत अपमान का दंश झेलना पड़ा था, "अबे चूहड़े के .. आ.. दो अच्छर पढ़ लिए, सोहरे का दिमाग चढ़ा दिया है.. अबे औकात मत भूल जबकि उसके पिता यही समझते थे कि पढ़ लिखकर, अपनी जाति सुधारा! लेकिन क्या पता कि पढ़-लिखकर जातियों नहीं सुधरती। वे सुधरती हैं जन्म से।"

इन्टर कॉलिज में आने के बाद ओमप्रकाश ने डॉ. आंबेडकर की पुस्तकें पढ़ीं। इससे पहले वह गांधी, नेहरू, पटेल, विवेकानन्द, शरत और टैगोर से ही परिचित थे। डॉ. आंबेडकर की पुस्तकों के अध्ययन से उनके भीतर एक प्रवाहमयी चेतना जागृत हुई और उनके गूंगेपन को शब्द मिल गए। व्यवस्था के प्रति विरोध की भावना उसके मन में इन्हीं दिनों पुख्ता हुई थी। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने आत्मकथन में स्पष्ट लिखा है कि "आंबेडकर को पढ़ लेने के बाद यह बात समझ में नहीं आ गयी थी कि गांधी ने 'हरिजन' नाम देकर अछूतों को रा"ट्रीय धारा में नहीं जोड़ा बल्कि हिन्दुओं को अल्पसंख्यक होने से बचाया था। उनके हितों की रक्षा की थी।" लेकिन साथ-साथ 'एक नया शब्द 'दलित' भी मेरे शब्द कोश में जुड़ गया, जो 'हरिजन' का स्थापन नहीं बल्कि करोड़ों अछूतों के आक्रोश की अभिव्यक्ति थी।" इस एक 'दलित' शब्द से उन्हें नयी दिशा मिल गयी और यह धारणा मजबूत होती गयी कि 'स्कूल कालिजों में दी जाने वाली शिक्षा किसी भी रूप में राष्ट्रीय नहीं बनाती, बल्कि कट्टर संकीर्ण हिन्दू बनाती है।

इसलिए ओमप्रकाश वाल्मीकि के मन में बार-बार एक ही सवाल उठता था कि 'मैं हिन्दू भी तो नहीं हूँ। यदि हिन्दू होता तो मुझसे इतनी घृणा, इतना भेदभाव क्यों करते हैं?' बात-बात पर जातीय बोध की हीनता से मुझ क्यों भरते हैं? एक अच्छा इंसान होने के लिए 'हिन्दू' होना क्यों जरूरी है। जबकि "हिन्दू की क्रूरता बचपन से देखी है, जातीय श्रे"ठताभाव अभिमान बनकर कमज़ोर को ही क्यों मारता है? क्यों दलितों के प्रति हिन्दा इतना निर्दयी और क्रूर है?"

अपनी पढ़ाई के दौरान ही ओमप्रकाश को एप्रेंटिस के रूप में आर्डिनेंस फैक्ट्री, देहरादून में प्रवेश मिल गया तो पिताजी की खुशी का ठिकाना न रहा। वे बार-बार एक ही बात दोहराते थे कि 'जात' से तो पीछा छूटा, पर वे अन्त तक इस तथ्य से अपरिचित ही रहे कि 'जाति' से मृत्युपर्यन्त पीछा नहीं छूटता है। ट्रेनिंग के दौरान आर्डिनेंस फैक्ट्री प्रशिक्षण संस्थान, अम्बरनाथ, बम्बई, के हास्टल में रहते कुलकर्णी परिवार से संपर्क हुआ था जिन्हें 'वाल्मीकि' सरनेम में ब्राह्मण होने का भ्रम हो गया था। इसी कारण उस परिवार में आत्मीयता मिली और स्नेह भी, जो पारिवारिक संबंधों में बदलने लगा था कि एक दिन उनके घर में ही महार जाति के अध्यापक के साथ जातिगत भेदभाव देखा तो मन में उनके प्रति घृणा हो गयी। कुलकर्णी की बेटी सविता जो वाल्मीकि से प्यार करने लगी थी, को जब यह बताया कि वह भी अछूत है तो उसे यकीन नहीं हुआ। सच जानकर सविता

अपराध-बोध से पीड़ित हो गयी और हमारे बीच अचानक फासला बढ़ गया था। हजारों साल की नफरत हमारे दिलों में भर गयी थी। एक झूठ को हमने संसृति मान लिया था। "ओमप्रकाश उस समय तनाव-मुक्त था तो सविता अपराध-बोध से पीड़ित के 'घर आओ या न आओ लेकिन यदि यह सच है तो बाबा से मत कहना।'" यह आधुनिक समाज के उन ब्राह्मण परिवारों का चरित्र है जो आधुनिकता, प्रगतिशीलता और जनतंत्र का ढोल पीटते हैं पर अपने अंदर ब्राह्मणवादी-संस्कारों को ही पालते रहते हैं और अपने बच्चों को भी पारिवारिक स्तर पर ब्राह्मणी-संस्कारों को जन्म से ही घुट्टी में पिलाते रहते हैं।

दूसरी तरफ उन्हें महाराष्ट्र की धरती पर ही दलित आन्दोलन की प्रेरणा मिली। मराठी के दलित साहित्य से ही नहीं बल्कि उसके लेखकों - दयापवार, नामदेव ढसाल, गंगाधर पानतावणे, बाबूराव बागूल तथा केशव मेश्राम आदि से परिचय हुआ जिनके शब्द रंगों में चिंगारी भर रहे थे। ओमप्रकाश वाल्मीकि को इनसे नयी उर्जा मिली। जैसे-जैसे मराठी साहित्य में से उनमें दलित चेतना की अदभुत तेजस्विता के दर्शन हुए और उन्हें आत्मसन्तुष्टि मिली। नागपुर की 'दीक्षा भूमि' में भदन्त आनन्द कौसल्यायन से प्रेरणा मिली। बुद्ध के मानवीय स्वतंत्रता के दर्शन से नयी उर्जा प्राप्त हुई और मानव को ही सर्वोपरि मानकर उसकी मुक्ति के लिए साहित्य-सृजन की ओर प्रवृत्त हुए। जैसे-जैसे उनकी दलित आंदोलन में सक्रियता बढ़ रही थी, आस-पास के लोग शक की निगाहों से देखने लगे थे, मानों वह उनके वर्चस्व को तोड़ने का काम कर रहा था। ऐसे लोगों में ज्यादातर सवर्ण ही थे।

इस आत्मकथन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि एक व्यक्ति के व्यक्तिगत अनुभव मात्र नहीं है बल्कि समष्टिगत भी है। भारतीय समाज का लगभग पूरा चरित्र इसमें समाया हुआ है। एक तरफ सवर्ण जाति के शिक्षकों से लेकर कर्मचारी और अफसरों द्वारा जातिगत भेदभाव और उससे अपमान और यातनाओं का लम्बा सिलसिला दिखाई देता है तो दूसरी ओर सवर्ण जाति के छात्रों-कर्मचारी और अफसरों का स्नेह और प्यार भरा सहयोग भी मिला है। जब पहली बार इस बस्ती के ओमप्रकाश में लिखा है कि "ऐसा पहली बार हुआ था जब कोई त्यागी मुझे अपने घर ले गए थे। बेहद आत्मीयता के साथ पास बैठकर दोपहर का खाना भी खिलाया था। वह भी अपने बर्तनों में। छुआ-छूत के माहौल में यह विशेष घटना थी।" (पृ. 94) इसी तरह महाराष्ट्र पुलिस के सब-इंस्पेक्टर कुरेशी और उसके परिवार में उन्हें बहुत स्नेह और प्यार मिला। मेघदूत नाट्य संस्था के कार्यक्रमों के दौरान अनेक सवर्णों से संपर्क हुआ और अनेक लोगों से आत्मीय संबंध बने। किशन शर्मा से बड़े भाई की तरह स्नेह और सहयोग मिला। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने इस संबंध में लिखा है, "मुझे बनाने में किशन शर्मा जी का बहुत बड़ा योगदान है। वे जितने अच्छे कलाकार थे उतने ही संवेदनशील इंसान भी, जो मानवीय अनुभूतियों को परख लेने की क्षमता रखते थे।" (पृ. 284)

आत्मकथन का अन्त ओमप्रकाश के 'वाल्मीकि' सरनेम को लेकर उठे विवाद के साथ उनके संघर्षों और सरोकारों का साथी बन गया था, इसलिए उन्हें आत्मीय भी लगा था। कुछ मित्रों को वाल्मीकि सरनेम आकर्षक लगता है तो कुछ को 'जाति बोध' की हीनता का। स्कूल-कॉलेज में सहपाठियों से लेकर अध्यापकों-गुरुजनों ने इस सरनेम पर बहुत बार छींटाकशी की थी और मजाक भी बनाया था तो कुछ लोगों ने इसे साहसिक कदम बताया। उनका तर्क था कि एक अछूत निम्न जाति कही जाने वाली 'जाति' का व्यक्ति अपने नाम के साथ अपनी 'जाति' को सरनेम की तरह लगाए, वह भी श्रेष्ठता भाव के साथ तो साहसिक हुआ है। एक सज्जन ने तो यहाँ तक कह दिया, "साहस कि क्या बात है ... है तो चूहड़ा ही, अच्छा है, जाति पूछने की जहमत से बच जाए।"

सच्चाई यही है कि भारत में 'जाति' के साथ ही मान-सम्मान जुड़ा हुआ है। क्योंकि जाति का नाम जानते ही लोगों का व्यवहार और आचरण बदल जाता है और 'ऐसा कहने वालों में ज्यादातर मेरी ही 'जाति' के पढ़े-लिखे फासला रखने का प्रयास करते हैं।' तथाकथित दलित साहित्यकार भी हैं। कई अधिकारी, विद्वान, नाते-रिश्तेदार फासला रखने का प्रयास करते हैं।' (पृ.282) बहराल, ओमप्रकाश के साथ जुड़कर 'वाल्मीकि' शब्द जातिहीनता का नहीं बल्कि उनकी अपनी जातीय अस्मिता और पहचान का प्रतीक बनकर उभरा है जो वर्ण-व्यवस्था, द्वेष और घृणा को नाकाम कर रहा है। स्पष्ट है कि यह आत्मकथन दलित जीवन की विडम्बनापूर्ण स्थितियों, जातिव्यवस्था से उत्पन्न छुआ-छूत के दंश को, यंत्रणाओं, यातनाओं और अपमान के विभिन्न पक्षों को उभारते हुए ओमप्रकाश 'वाल्मीकि' सरनेम के जातीय-बोध की आत्मस्वीकृति की लंबी यात्रा तय करके दलित अस्मिता की पहचान कराने में अपनी सार्थकता सिद्ध करती है।

17-7 जूठन की कथावस्तु का विश्लेषण

नोबल पुरस्कार से पुरस्कृत अमरीकी उपन्यासकार अर्नेस्ट हेमिंग्वे से एक संवाददाता ने पूछा कि आपने अब तक आत्मकथन क्यों नहीं लिखी? हेमिंग्वे का उत्तर बड़ा मार्मिक तथा सार्वकालिक सत्य था। उन्होंने उस संवाददाता से पूछा कि 'अब तक मैंने जो लिखा है, वह फिर क्या है?' वाल्मीकि के साहित्य को पढ़ते वक्त हेमिंग्वे की यह बात हमें सदा याद आती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताएँ, कहानियाँ उनके आत्मकथन 'जूठन' के विकसित साहित्य लगते हैं। कभी-कभी लगता है कि लेखक वाल्मीकि 'जूठन' की हैंगओवर से अभी बाहर नहीं आये? लेकिन वास्तविकता यह है कि चिनुवा अचेबे का रचना-संसार गोरे लोगों के अत्याचार, अन्यायों के चित्रण की गैर-हाजिरी में जिस तरह अधूरी है उसी तरह अपनी आप बीती जिंदगी के अनुभवों को छोड़कर ओमप्रकाश वाल्मीकि लिख नहीं सकते। इसलिए आत्मकथन जूठन में अपने चूहड़े जात में प्रचलित 'सलाम' करने की पद्धति पर संकेत भर लिखा था और उसी घटना के आधार पर बाद में 'सलाम' कहानी भी लिखी। इस तरह भारतीय दलित का जीवन स्वयं एक अद्भुत अनुभवों का 'कोलाज' है। वह कौशल्या बैशंत्री की तरह शहर की हो या वाल्मीकि की तरह गाँव का क्यों न हो उनके अनुभव की तीव्रता एक जैसी ही हैं। छुआछूत, गरीबी, अनक्षरता, अत्याचार सहते जाना और उसको अपनी नियति मान लेना जैसे अंधविश्वास, भय से जकड़े दलित वर्ग की यातना और संत्रास को अभिव्यक्त करना दलित लेखकों की रचनाओं का मूल उद्देश्य है।

'जूठन' में भारतीय गाँवों में रहने वाले अस्पृश्यों का जो हाल है वही प्रेमचंद की 'ठाकुर का कुआँ' कहानी से वाल्मीकि तक है जाति प्रथा के स्तर पर कुछ नहीं बदला। यदि कुछ बदला है तो वह बस यह है कि 'जूठन' का 'मैं' शिक्षा पाने के लिए तरसता है, और उनके माँ बाप किसी भी हालात में उसको शिक्षित बनाने के लिए कटिबद्ध हैं। वास्तव में दलित का शिक्षित होना कोई सरल एवं स्वाभाविक बात नहीं है। 'जूठन' की पाठशालाओं में ओमप्रकाश को अपने सहपाठियों के साथ पढ़ने के बदले में - हेडमास्टर के आदेश पर स्कूल तथा उसके भारी मैदान को रोज झाड़ू मारना पड़ता है। अचानक उनके पिताजी का यह सब देखना और हेडमास्टर को इसके लिए दोष देना, बाद में बालक ओमप्रकाश को स्कूल से निकाल देना, बाप को गाँव के हर तगा साहूकार के दहलीज पर जा कर गिडगिड़ाना आदि प्रसंगों के मार्मिक उद्घाटन से मन में पढ़ने की ललक और मजबूत हो जाती है एवं यही ललक 'बरला' गाँव के इस दलित युवक को आंबेडकर के साहित्य से परिचित कराती है। दलित युवक को अपनी स्थिति पर सोचने के लिए मजबूर किया जाना, अपने माँ बाप की स्थिति की दूसरों से तुलना करना, जैसे उनका दिमाग 'ज्वालामुखी'

सा हो जाता है, लिखने के बाद ही वह ज्वालामुखी का धधकता लावारस तत्काल के लिए शांत हो जाता है।

इस तरह 'जूठन' की कथावस्तु केवल ओमप्रकाश वाल्मीकि का दुःख दर्द न होकर पूरे देश के दीनहीन दलितों का दर्द बन जाती है जिसके कारण से यह आत्मकथन सार्वकालिक तथा सार्वजनीन बन जाती है जो इस कथावस्तु की बहुत बड़ी उपलब्धि है।

17-8 जूठन आत्मकथन के पात्र और चरित्र चित्रण

जूठन में तीन पात्र प्रमुख हैं - एक स्वयं लेखक, उनकी माँ तथा बाप। माँ बाप दोनों अनपढ़ हैं, लेकिन त्यागी साहूकार उसे बेगार करने को तैयार नहीं क्योंकि उनका विश्वास है कि इस तरह काम करने के लिए ही इन चूहड़े मेहतारों का जनम हुआ है और घर में बच्चा खुचा जूठन तो ऊपर इनको दिया जाता है। आत्मकथन के तीनों पात्रों की विशेषता यह है कि गरीब और लाचार होने के बावजूद वे तीनों आत्मविश्वासी तथा आत्मसम्मान रखने वाले हैं- अपनी दयनीय स्थिति के बारे में ओमप्रकाश लिखते हैं - "त्यागी लड़कों के कलफ लगे, ताजा धुले कपड़ों को देखकर मैं हमेशा सोचता था कि मैं भी ऐसे ही कपड़े पहनकर स्कूल जाऊँ। कभी-कभी तो त्यागियों के घर से मिली उतरन पहननी पड़ती थी। उन कपड़ों का देखकर लड़के चिढ़ाते थे। लेकिन यह उतरन भी हमारी बेबसी को ढक नहीं पाती थी" (जूठन पृ. 28) जैसी बातों में मैं के चरित्र को किस तरह बचपन से ही अपमान सहना पड़ा था, इसका चित्रण अपने आप दिखायी देता है। शिक्षा पाने के लिए, क्लासरूम में, प्रतियोगिताओं में अपनी योग्यता के आधार पर पुरस्कार पाने की सहज इच्छा ओमप्रकाश वाल्मीकि के व्यक्तित्व में शुरुआती दौर से दिखायी देती है, लेकिन सहज एवं स्वाभाविक न्याय से उसे हमेशा वंचित किया जाता है। फिर भी ओमप्रकाश कभी किसी के सामने नहीं झुकता, समझौता नहीं करता आत्मसम्मान के सीधे रास्ते में आगे बढ़ता है। अपना सरनेम 'वाल्मीकि' को लेकर आत्मकथन में एक लंबे वादविवाद का, पारिवारिक खींचातानी का चित्रण है, इस आत्मसंघर्ष का चित्रण करते हुए ओमप्रकाश जी लिखते हैं - "इस सरनेम के कारण जो दंश मुझे मिले हैं, उनको बयान करना कठिन है। परायों की बात छोड़िए, अपनो ने जो पीड़ा दी है वह अकथनीय है। परायों से लड़ना जितना आसान है, अपनों से लड़ना उतना ही दुष्कर।"

अपने बेटे को हेडमास्टर स्कूल का ही नहीं मैदान का भी झाड़ू मारने लगवाता देख 'मैं' का बाप आग बबूला हो जाता है तथा हेडमास्टर को ललकारता है कि आया आज के द्रोणाचार्य निकले, मास्टर मैं को स्कूल से निकलवाने की धमकी देने पर भी बेटे को दोबारा स्कूल में दाखिल करने की हिम्मत दिखाता है। बाप के मानसिक संबल से ही बालक ओमप्रकाश हमेशा ऊँचाई की ओर देखता है। इस तरह अनपढ़ होते हुए भी बाप अपने बेटे की पढ़ाई में विशेष ध्यान देता है। जिसमें कारण से देश के अनपढ़ दलित समूह प्रतिनिधि होते हुए भी, गरीब लाचार होने पर भी ओमप्रकाश का बाप, दलितों का स्वाभाविक धैर्य, सच्चाई का रूप तथा सुंदर भविष्य की कल्पना करने वाले दृष्टा के रूप में आत्मकथन में चित्रित हैं।

तीसरा पात्र माँ पहले के दोनों चरित्र से ज्यादा धैर्यशाली लगती है। सुखदेव सिंह की बेटे की शादी के महीनों से झाड़ू पोंछा करने वाली माँ बरातियों के खाने तक दरवाजे के बाहर, पड़े हुए जूठन के पास इस आस लेकर खड़ी रहती है - आज अपने बच्चों को अभी पत्तल भर मिष्ठान मिलेगा। क्योंकि महीनों उन्होंने इसी आशा में बेगारी की थी। जब सब लोग खाना खाकर चले गए तो मेरी माँ ने सुखदेव सिंह त्यागी को दालान से बाहर आते देखकर कहा, "चौधरी जी, ईब तो सब खाणा खा के चले गए...म्हारे जाकतों (बच्चों) कू भी एक पत्तल धर के कुछ दे दो। वो बी तो इस दिन का इंजजार कर रे ते।"

सुखदेव सिंह ने जूठी पत्तलों से भरे टोकरे की तरफ इशारा करके कहा, “टोकरा भर तो जूठन ले जा री है...ऊपर से जाकतों के लिख खाणा माँग री है? अपणी औकात में रह चूहड़ी। उठा टोकरा दरवाजें से और चलती बन।” सुखदेव सिंह त्यागी के शब्द मेरे सीने में चाकू की तरह उतर गए थे, जो आज भी अपनी जलन से मुझ झुलसा रहे हैं।

उस रोज मेरी आँखों में दुर्गा उतर आयी थी। माँ को वैसा रूप मैंने पहली बार देखा था। माँ ने टोकरा वही बिखेर दिया था। सुखदेव सिंह से कहा था, “इसे ठाके अपने घर में धर ले। कल तड़के बारातियों को नाश्ते में खिला देगा...”

हम दोनों भाई-बहनों का हाथ पकड़ के तीर की तरह उठकर चल दी थी। सुखदेव सिंह माँ पर हाथ उठाने के लिए झपटा था, लेकिन मेरी माँ ने शेरनी की तरह सामना किया था। बिना डरे। उसके बाद माँ कभी उनके घर नहीं गई और जूठन का सिलसिला भी बंद हो गया था। (जूठन. पृ.22) इन बातों में माँ के विद्रोही रूप का यथावत चित्रण करके आत्मकथनकार ने एक दलित नारी की अस्मिता को दर्शाया है।

17-9 सारांश

‘जूठन’ आत्मकथन एक दलित युवक की जातिगत यातना ही भोगी हुई कहानी है। आत्मकथन का नायक ‘मैं’ ने बरला गाँव में अपने बीते दिनों को यथावत, रचना में प्रस्तुत किया है। उनकी यह प्रस्तुति साहित्यिक तो है ही साथ-साथ इसमें चूहड़ों, मेहतरों के जीवन की यशोगाथा नहीं यातनागाथा गायी गयी है। यातनागाथा इसलिए कि ‘गरीब एवं धनहीन, परिवार होने के बावजूद यह ‘मैं’ ने अपने में आत्मसम्मान को पालकर रखा है जिसके कारण से उसे पढ़ने नहीं दे रहे हैं? क्यों मुझे झाड़ू मारने के लिए मजबूर कर रहे हैं? इस तरह कौतूहल एवं प्रश्न करने की क्षमता के कारण ‘नायक’ को जीवन के पगपग पर कष्ट उठाना पड़ता है। लेकिन इन मुसीबतों से वह कभी नहीं डरता, उसको डटकर मुकाबला करता है। मुकाबला करने की शक्ति ने ही ‘मैं’ को अक्षरज्ञान के नये प्रपंच को परिचय कराता है। जिससे उनको पता लगता है कि शोषण, अत्याचार, दमन के परे भी एक दुनिया है और उस शोषण रहित समाज को हासिल करना एवं उस स्वस्थ समाज को विकसित करना है ‘जूठन’ का पहला एवं अंतिम उद्देश्य रहा है।

आत्मकथन का परिचय दे सकते हैं।

हिंदी दलित आत्मकथन एवं सामान्य आत्मकथन के अंतर को स्पष्ट कर सकते हैं।

दलित आत्मकथन की पृष्ठभूमि का चित्रण कर सकते हैं।

प्रमुख दलित आत्मकथन कारों का परिचय दे सकते हैं।

दलित आत्मकथनकार ओमप्रकाश वाल्मीकि का जीवन तथा साहित्य का परिचय दे सकते हैं।

जूठन की कथावस्तु का विश्लेषण कर सकते हैं।

जूठन की आत्मकथन के पात्रों का परिचय दे सकते हैं।

bdkbz 18 'जूठन' : अवमानना और बहिष्कार ds nã k

bdkbz dh : i js[kk

- 18.0 उद्देश्य
- 18.1 प्रस्तावना
- 18.2 जाति विद्वेष की लपटों से झुलसता बचपन
- 18.3 'जूठन' की वैचारिक पृष्ठभूमि
- 18.4 अवमानना व बहिष्कार
- 18.5 जाति का सामाजिक-आर्थिक पक्ष
 - 18.5.1 सामाजिक विद्रूपताओं से अवमानित दलित
 - 18.5.2 जाति का आर्थिक संदर्भ
- 18.6 भाषा और शिल्प

18-0 mĩs ;

आत्मकथन 'जूठन' की यह दूसरी इकाई अध्ययन के लिए आपके सामने है। इससे पहले की इकाई में आप 'जूठन' के लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि के व्यक्तित्व, जीवन संघर्ष, चिंतन, रचनात्मक लेखन की विशेषताओं एवं व्यक्तित्व से परिचित हो चुके हैं। आपने भारतीय समाज एवं साहित्य के संदर्भ में दलित आत्मकथन की अवधारणा को जाना। हिंदी में लिखित दलित आत्मकथनों में 'जूठन' विशिष्टता के लिए जाना जाता है। आत्मकथन में अंकित दलित जीवन के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और शैक्षिक उत्पीड़न के विविध रूपों से परिचित हो गए। प्रस्तुत इकाई में आप 'जूठन' के माध्यम से भारतीय जातिआधारित सामाजिक संरचना की जटिलता और इस व्यवस्था ने दिए जातिदंश की पीड़ा को झेलती मानवता की तकलीफ़ को समझ सकेंगे और विशेष रूप से जाति प्रथा की निम्नलिखित सच्चाइयों को जान सकेंगे,

- भारतीय जाति संरचना में अस्पृश्यता से पीड़ित अपमानित, तिरस्कृत मानव मन की वेदना को समझ सकेंगे;
- जाति के अमानुषिक और पाशविक स्वरूप को जान सकेंगे;
- वर्ण-जाति वर्चस्व संस्कृति की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक घेरेबंदी, प्रायोजित दासप्रथा की पाशविकता से परिचित हो सकेंगे;
- 'जूठन' के माध्यम से व्यक्तिगत अनुभवों की समूहगत व्याप्ति को समझ सकेंगे;
- अवमानना, तिरस्कार, घृणा और बहिष्कार के उस समाजशास्त्र से अवगत हो सकेंगे जिसके द्वारा हीनता बोध द्वारा शोषण परंपरा को जीवित रखे जाने की साजिश से रूबरू हो सकेंगे;
- शैक्षिक संस्थानों के जातिवादी स्वरूप से परिचित हो सकेंगे;

- ज्ञानअर्जन से बदलते सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य की सच्चाई का विश्लेषण कर सकेंगे;
- दलित चेतना के विद्रोही स्वर से परिचित हो सकेंगे;
- भारतीय समाज व्यवस्था के वास्तविकताओं के दस्तावेज आत्मकथन के महत्व का मूल्यांकन कर सकेंगे; और
- दलित सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन में आत्मकथनों के योगदान का समुचित मूल्यांकन कर सकेंगे।

18-1 प्रस्तावना

आत्मकथन 'जूठन' पर केन्द्रित इकाइयों में यह दूसरी इकाई आपके सामने है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के जीवनानुभवों का यह दस्तावेजीकरण भारतीय समाजव्यवस्था के जातिवादी अमानुषिक चेहरे पर से आवरण हटाकर उसकी सच्चाई से हमें रूबरू कराता है। दलित आत्मकथन की विशेषता यह है कि लेखक जीवन की स्मृतियाँ, अनुभव मात्र व्यक्तिगत नहीं है वह संपूर्ण समूह के जातिगत उत्पीड़न की सच्चाई को हमारे सामने आईने की तरह प्रतिबिंबित करती हैं। जाति संरचना के सनातनी परंपरागत स्वरूप, छुआछूत के अमानवीय व्यवहार, आर्थिक विवंचना, अवमानना-अवहेलना एवं बहिष्कार की मानवरचित व्यवस्था है। जाति सोपानीकृत व्यवस्था और उसके द्वारा शोषण का एक सा स्वरूप संपूर्ण भारत में देखने को मिलता है। छुआछूत के अमानवीय व्यवहार तथा जातिगत हिंसा के शिकार दलित आज भी स्वाधीन देश में एक गुलाम सदृश्य जीवन जीने को बाध्य किए जा रहे हैं। गांवों की संरचना में दलितों की बसावट के लिए विशेष नियम बनाए गए हैं, जिसका पालन न करने पर दलित हिंसा के शिकार होते हैं। गांवों देहातों के दक्षिण में ही इनकी बस्तियाँ बसी होती हैं। दलित बस्ती के दरवाजे गांव के विरुद्ध दिशा में हुआ करते हैं। दलित बस्तियाँ गांवों के कुड़े-कर्कट के ढेरों पर, श्मशान के आस-पास, जहाँ मृत पशुओं की खाले उतारी जाती हैं के पास ही बसती हैं। आधुनिक स्वाधीन देश में हमें ऐसी बस्तियाँ हर गांव और कस्बों नगरों में दिख जाती हैं। सड़क के नाम पर कच्ची सड़कें जो ज्यादातर कीचड़ से भरी गड्ढेनुमा सड़कें होती हैं। नालियों के बिना सड़ांध मारता पानी झोपड़ियों के दरवाजे से बहता मिलेगा, आस-पास ही खुले शौचालय होने, से गांव भर की गंदगी इन्हीं बस्तियों के पास फेंकी जाती है। कुत्ते, सुअर बेधड़क घूमते नजर आएंगे। बहिष्कृत बस्तियों का यह स्वरूप हमें संपूर्ण भारत भर में एक सा देखने को मिलेगा। ओमप्रकाश वाल्मीकि की बस्ती और गाँव की रचना वर्णव्यवस्था और जातिप्रथा के कठोर नियमों के अनुसार ही है। गांव के एक कोने में बसी दलित बस्ती की हकीकत आजादी के बाद के भारतीय गांवों की संरचना और सच्चाई को उजागर करती है। ओमप्रकाश ऐसी ही बस्ती में जन्में और बड़े हुए वे लिखते हैं,

“हमारा घर चंद्रभान तगा के घर से सटा हुआ था। उसके बाद कुछ परिवार मुसलमान जुलाहों के थे। चंद्रभान तगा के घर के ठीक सामने एक छोटी-सी जोहड़ी (जोहड़ का स्त्रीलिंग) थी, जिसने चुहड़ों के बगड़ और गाँव के बीच एक फासला बना दिया था।”
(पृ.11 जूठन)

आधुनिक भारत के गाँव-कस्बों, नगरों में बसावट की यह परंपरा का निर्वाह आज भी उसी तरह होता है जिसका निर्धारण 'मनुस्मृति' के विधि-विधानों द्वारा तीन हजार वर्ष पूर्व किया गया था। आधुनिक भारत के विकास का संपूर्ण विश्वस्तर पर बोलबाला है लेकिन, इसी विकासशील देश में जातिप्रथा के अभिशाप को झेल रहे दलितों के विकास पर ध्यान न दिए जाने के दर्द को लेखक ने अभिव्यक्त किया है। चालीस वर्ष पहले की पुरानी स्थिति

में बामुश्किल ही परिवर्तन हुआ नजर आता है। विकास के साधनों का अभाव मात्र इन्हीं बस्तियों के लिए ही क्यों रहता है, लेखक ने इस आत्मकथा के द्वारा यह एक महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय प्रश्न उठाया है। एक नागरिक के संवैधानिक बुनियादी अधिकारों से दलित बस्तियाँ (मूल लेख देखकर छूटा हुआ अंश जोड़ें) “चारों तरफ गंदगी भरी होती थी। ऐसी दुर्गंध कि मिनट भर में साँस घुट जाए। तंग गलियों में घूमते सूअर, नंग-धड़ंग बच्चे, कुत्ते, रोजमर्रा के झगड़े, बस यह था वह वातावरण जिसमें बचपन बीता। इस माहौल में यदि वर्ण-व्यवस्था को आदर्श-व्यवस्था कहने वालों को दो-चार दिन रहना पड़ जाए तो उनकी राय बदल जाएगी।” (पृ. 11 जूठन)

दलित आत्मकथन दलित जीवनानुभवों की प्रामाणिक अभिव्यक्ति के दस्तावेज हैं। अभी तक साहित्य के क्षेत्र में हाशिए के समूहों की वेदना, पीड़ा उत्पीड़न, त्रासदी और जीवन की सच्चाई की अभिव्यक्ति प्रगतिशील, और जनवादी लेखन में भी नहीं हुई। यदि सौ वर्ष के हिंदी साहित्य के इतिहास को देखा जाए तो संपूर्ण साहित्य में जाति उत्पीड़न के स्वर हमें सुनाई नहीं देते। अनुभवजन्य अभिव्यक्ति आत्मकथनों ने भारतीय साहित्य में एक नया दालान खोल दिया है। अभिव्यक्ति का यह प्रयास अनायास नहीं था, इसके पीछे सामाजिक तथा सांस्कृतिक आंदोलन की लंबी पृष्ठभूमि रही है। दलित साहित्य की निर्मिति दलित मुक्ति आंदोलन से प्रेरित है। हजारों वर्षों से संचित मूकवेदना ने रचनात्मक धरातल पर सामाजिक यथार्थ को उजागर किया है। दलित मुक्ति आंदोलन की मुक्तिकामी प्रेरणा से विकसित दलित साहित्य की सबसे प्रखर और मुखर अभिव्यक्ति दलित कविता है। दलित आत्मकथन दलित साहित्य धारा का दूसरा सशक्त सर्जनात्मक पड़ाव है। दलित जीवन के वंचित, उत्पीड़ित, अपमानित तथा जातिदंश से आहत मानव मन की वेदना, की अभिव्यक्ति संताप, विद्रोह, की नकार में हुई जिसने व्यवस्था को बदलने की प्रतिबद्धता के साथ दलित चेतना को विस्तार दिया है। आत्मकथाकार की समतावादी जीवन दृष्टि और परिवर्तनवादी सोच से परिपूर्ण चेतना के कारण दलित आत्मकथनों ने भारतीय साहित्य में अपनी विशिष्ट पहचान कायम की है। दलित लेखकों द्वारा आत्मकथन विधा को अपनाने के तीन कारण हैं, एक दलित जीवन की मर्मांतक वेदना, छुआछूत के दंश, तिरस्कार, घृणा और अवमानना के अनुभवों की प्रामाणिक अभिव्यक्ति द्वारा दलित वर्ग के शोषण-दमन को उजागर करना। अभी तक के कथित आभिजात्य साहित्य ने जातिप्रथा के कारण उपेक्षित समुदाय के जीवन की वास्तविकता को साहित्य का विषय नहीं बनाया। आज वही वंचित, शोषित, अपमानित व बहिष्कृतों का जीवन जी रहे दलित अपने जीवन के तमाम जातिदग्ध अनुभवों को अभिव्यक्ति दे रहे हैं।

जातिगत समाजव्यवस्था की क्रूरता, निरंकुशता, जातिवादी अमानुषिकता पर पड़ा संस्कृति और सभ्यता का आवरण हटाकर उपेक्षित मानवता की मुक्ति के प्रयासों का परिचय दलित आत्मकथन दे रहा है। लेखक के यह अनुभव मात्र व्यक्तिगत नहीं बल्कि सम्पूर्ण दलित वंचित वर्ग का अनुभव है। दलित ने सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, शैक्षणिक स्तर पर हो रहे शोषण, उत्पीड़न के समूहगत अनुभवों की दारुण वास्तविकता को उजागर किया है। लेखक ने आत्मकथन की रचना के दौरान, बीते हुए कल के मर्मांतक अनुभवों के बारे में लिखा है “इन अनुभवों को लिखने में कई प्रकार के खतरे थे एक लंबी जद्दोजहद के बाद, मैंने सिलसिलेवार लिखना शुरू किया। तमाम कटों, यातनाओं, उपेक्षाओं, प्रताड़नाओं को एक बार फिर जीना पड़ा। उस दौरान गहरी मानसिक यंत्रणाएं मैंने भोगी। स्वयं को परत-दर-परत उधेड़ते हुए कई बार लगा - कितना दुखदायी है यह सब! कुछ लोगों को यह अविश्वसनीय और अतिरंजनापूर्ण लगता है।” (जूठन -लेखक की ओर से..)

18.2 जाति विद्वे"ा की लपटों से झुलसता बचपन

अभिव्यक्ति दलित आत्मकथनों में प्रखर रूप में हुई है। पिटाई, अवमानना, अपमान, तिरस्कार, दुर्वचन, गाली-गलौच और सतत् रूप से मानसिक उत्पीड़न द्वारा समाज के एक हिस्से के अस्तित्व को नकारना, बहिष्कृतों का जीवन जीने को बाध्य करना सामाजिक संरचना का यह ऐसा धिनौना और अमानवीय स्वरूप विश्व में शायद ही अस्तित्व में होगा। जाति अहं की तुष्टि के लिए सार्वजनिक रूप से दलित वर्ग को दुत्कार कर उसकी अस्मिता को चोट पहुँचाते रहना जातिप्रथा का सबसे क्रूरतम खेल है। जूठन में ओमप्रकाश वाल्मीकि बचपन के ऐसे ही संत्रासपूर्ण अनुभवों को बयान करते हैं। कथित श्रेष्ठ जातियाँ अपने जाति अहं तुष्टि हेतु किस प्रकार बालक ओमप्रकाश को बार-बार जाति के संबोधन द्वारा अपमानित करते हैं, शिक्षा के प्रति उसके बढ़ते आकर्षण को देखकर, सवर्ण शिक्षकों के द्वारा हतोत्साहित करने के लिए गए प्रयास, निश्चित रूप से जनतांत्रिक अधिकारों का हनन है, यह सभी को स्तंभित कर देते हैं। एक मेधावी छात्र होने के बावजूद सवर्ण शिक्षकों द्वारा किए जाने वाले भेदभावपूर्ण व्यवहार और अनवरत अवहेलना किए जाने के प्रसंगों को लिखते समय याद करके उसी दर्द और पीड़ा को एक बार फिर सहने के अहसास के बारे में लिखा है। बचपन में उन पर किए गए अन्याय और उत्पीड़न को तल्लख शब्दों में उद्घाटित करते हुए वे लिखते हैं,

"हेडमास्टर ने लपककर मेरी गर्दन दबोच ली थी। उनकी उँगलियों का दबाव मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को दबोचकर उठा लेता कक्षा से बाहर खींचकर उसने मुझे बरामदे में ला पटका। चीखकर बोले, "जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू...नहीं तो... में मिर्ची डाल के स्कूल के बाहर काढ़ (निकाल) दूँगा।" (पृ.15 जूठन)

आपने देखा कि कालीराम मास्टर का ओमप्रकाश के साथ व्यवहार अतिशय कठोर और द्वेषपूर्ण है लेकिन विद्यालय में अन्य छात्रों के साथ वे ऐसा व्यवहार नहीं करते। जातिगत विद्वेष व्यक्त करने में वे किंचित भी लज्जा महसूस नहीं करते। मास्टर का यह व्यवहार गुरु-शिष्य परंपरा का कक्षा में ओमप्रकाश को शिक्षक द्वारा चूहड़ा 'चूहड़े का है?' जैसे जातिगत विशेषणों से संबोधित करना, 'अपमानित करते हुए "तेरा तो यह खानदानी काम है कह कर उसे जाति का अहसास कराते रहना और साथ ही 'दलित जातिगत पेशे ही करें' की नसीहत देना, बार-बार उलाहने देना 'चाहे जितना भी पढ़ ले, रहेगा तो चूहड़ा ही।' परिणामस्वरूप ओमप्रकाश जैसे और भी दलित बच्चे हीनताबोध से ग्रस्त होकर पाठशाला के वातावरण में अपने को अजनबी पाते। सवर्ण शिक्षकों की जातिवादी परंपराओं में आस्था और उसे कायम बनाए रखने के प्रयास दर्शाते हैं कि संविधान में दिए गए समता, स्वतंत्रता और न्याय के मूल्यों में उनका विश्वास नहीं है बल्कि उन मूल्यों की अवहेलना करने में अधिक है। दलित छात्रों के साथ भेदभाव करते हुए उनमें जरा भी संकोच या लज्जा का भाव नहीं दिखता। जाति अवमानना के ये अनुभव मात्र ओमप्रकाश के नहीं, उन सभी दलित बालकों के हैं, जो आजाद भारत में जन्में हैं। बालक ओमप्रकाश दो दिनों तक स्कूल, के बरामदों और मैदान में झाड़ू लगाता रहा। लेकिन तीसरे दिन पढ़ने की इच्छा से कक्षा में बैठते ही हेडमास्टर जाति के 'गालीनुमा संबोधन' से उसे प्रताड़ित करते हैं। जाति के इस अभिशाप से अभिशप्त दलित बच्चों का अनुभव जाति व्यवस्था की क्रूर सच्चाई से हमें रूबरू कराता है। जिस व्यवस्था में दलितों (अछूत) को इंसान मानने से ही इंकार हो तो उनकी शिक्षा-दीक्षा के प्रति सवर्ण शिक्षकों का असंवेदनशील व्यवहार अमानवीयता की सभी सीमाएं लांघ देता है।

आप यह जान चुके हैं कि धर्म ग्रंथों के विधि-विधानों ने स्त्री तथा शूद्र-अतिशूद्रों (अछूत) को ज्ञान के अधिकार से हजारों वर्षों तक वंचित रखा है। आज के आधुनिक समाज के

अपेक्षाकृत शिक्षित वर्ग द्वारा ही परंपरागत सनातनी मान्यताओं का अग्रक्रम में पालन किया जाना चिंता का विषय है। भविष्य की पीढ़ी के निर्माण में शिक्षकों की बड़ी भूमिका हो सकती है, जातिभेद के निर्मूलन में शिक्षकों की सक्रिय भूमिका होनी चाहिए, ना कि जातिगत घृणा और तिरस्कार को बढ़ावा देने की जिसका परिणाम अंततः परिवर्तन प्रक्रिया को ठप्प करने में ही कारगर हो सकता है। वंचित समुदायों में ज्ञानार्जन की इच्छा सदियों से रही है। प्रमाणस्वरूप हमें शंबूक और एकलव्य की लगन व अथक प्रयासों को देखना चाहिए। ज्ञान की साधना में लीन शंबूक का राम द्वारा वध तथा द्रोणाचार्य द्वारा एकलव्य से गुरुदक्षिणा में दाएं हाथ का अंगूठा गुरुदक्षिणा में माँग लेना उस छद्म को खोलता है जो कि वर्ण-जातिवादी प्रवृत्तियों की उपज है। लेकिन लेखक के साथ हो रहे अन्याय उत्पीड़न का समय जनतांत्रिक गणराज्य में संविधान द्वारा प्रदान किए गए स्वतंत्रता, समता और न्याय जैसे मानवीय मूल्यों को अपनाए जाने के बाद का है।

ओमप्रकाश तीन दिन तक हेडमास्टर के कहने पर स्कूल के मैदान और बरामदों में झाड़ू लगाता रहा। तीसरे दिन उनके पिता ने वहाँ से गुजरते हुए देखा कि पाठशाला में पढ़ने की जगह ओमप्रकाश (मुंशीजी) झाड़ू लगा रहा है, सिर से पैर तक धूल से सने अपने प्रिय बालक को पास बुलाकर पूछा "मुंशी जी यो क्या कर रहा है? फफक कर रो पड़े बालक ओमप्रकाश के बताए जाने पर कि 'कक्षा में पढ़ने भी नहीं देते और तीन दिन से रोज झाड़ू लगवा रहे हैं।" गुरसे से पिताजी ने चिल्लाकर कहा "कौन सा मास्टर है वो द्रोणाचार्य की औलाद, जो मेरे लड़के से झाड़ू लगवावे हैं...। मास्टर कालूराम की डाँट से भी वे डरे नहीं बल्कि डटकर सामना करते रहे।" जाते-जाते हेडमास्टर को सुनाकर बोले, मास्टर हो ...इसलिए जा रहा हूँ..पर इतना याद रखिए मास्टर...यो चूहड़े का यहीं पढ़ेगा....इसी मदरसे में। और यो ही नहीं, इसके बाद और भी आवेंगे पढ़ने कू। "पिता के इस साहस और संकल्प को देखकर यह स्वाभाविक रूप से मान लिया जाए कि, दलित वर्ग अपनी पहचान के प्रति सचेत हो रहा था।"

जातिवादी उत्पीड़न का सिलसिला मास्टर तक ही सीमित नहीं था, त्यागियों के लड़के, स्कूल के सवर्ण सहपाठी भी किसी-न-किसी बहाने दलित छात्रों को प्रताड़ित करने में पीछे नहीं थे। ओमप्रकाश आठवी कक्षा के मेधावी छात्र थे तब भी उत्पीड़न से बच नहीं पाए थे। उत्पीड़न के अनुभव को उन्हीं के शब्दों में जान लें। "एक दिन मैं घर से स्कूल जाने के लिए कुछ जल्दी ही निकल पड़ा। घर में कोई घड़ी तो थी नहीं, अंदाज से ही निकलते थे। पक्की सड़क पर, स्कूल जाने वाला शायद उस समय मैं अकेला था। मेरे पीछे-पीछे सूरजभान तगा का बेटा बृजेश आ रहा था। शायद खेत पर जा रहा था। उसने आवाज दी। स्कूल थोड़ी सी दूर रह गया था, "अबे, चूहड़े के, तेरे तो सचमुच सींग निकल आए हैं। तू तो बड़ी शेखी में रहता है। तेरी तो चाल ही बदल गई है।" बिना उत्तर दिए मैं जाने लगा, तो उसने आगे बढ़कर मेरा रास्ता रोक लिया। डाँटते हुए बोला, "सुना है तू पढ़ने में हुशियार है।" उसने लाठी का एक सिरा मेरे पेट में गाड़ दिया "करके हमें भी तो दिखा तू कितना हुशियार है। वह झगड़े पर उतारू था। मैं झगड़े से बचना चाहता था। मुझे चुप देखकर वह फिर गुर्गया", कितना भी पढ़ लियो, रहेगा तो चुहड़ा ही... यह जाति दंभ भरे सवर्ण के द्वारा कहे गए तिरस्कार के शब्द थे। दलित वर्ग के बच्चे पढ़ लिखकर सरकारी नौकरी पाकर अपना जीवन सुधार लेंगे और तब तगाओं की धमकियाँ उन्हें डरा नहीं सकेंगी, उनसे बेगार नहीं करा सकेंगी, यह डर तगाओं को सताने लगा था। बारहवीं की कक्षा में ओमप्रकाश को सायन्स के शिक्षक ने फेल किया। वे नहीं चाहते थे कि वे बारहवीं पास करे। प्रैक्टिकल के लिए जब भी वे लैब जाते तो अध्यापक उन्हें कोई न कोई काम देकर बाहर भेज देते। एक शिक्षक की जातिवादी प्रवृत्ति का यह व्यवहार उसके मंतव्य को स्पष्ट करता है। इंटर तक पहुँचे ओमप्रकाश के सपनों को पूरा होते वे देख नहीं सकते।

आज भी तमाम शिक्षा संस्थानों में दलित-आदिवासी छात्रों के साथ जातिगत के चलते भेदभाव उत्पीड़न, अपमान, फेल करने की कोशिशें किए जाने से दलित-आदिवासी छात्रों द्वारा आत्महत्याओं की खबरें रोज ही अखबारों में छपती हैं। देश की संवैधानिक शिक्षानीति के बुनियादी ढाँचे को भी प्रभुत्वशाली-जातिवादी वर्ग अपने अनुसार चलाना चाहता है। संविधान द्वारा प्रयुक्त शिक्षा में आरक्षण के प्रावधानों के बावजूद अनेक निजी शिक्षा संस्थानों में दलित छात्रों को दाखिले न देकर इस आरक्षण नीति का सरेआम उल्लंघन किया जाता है। विजय गौड़ अपने आलेख में इसके सही आकलन को प्रस्तुत करते हैं "बावजूद प्रतिकूल स्थितियों के बालक ओमप्रकाश का शिक्षा प्राप्ति का ध्येय और उनके पिता का अपने पुत्र को शिक्षा दिलाकर जाति सुधारने का सपना रूप ग्रहण करता गया। किसी भी कठिन परिस्थिति में वाल्मीकि अपने ध्येय से विचलित नहीं हुए।"

(विजय गौड़ - जूठन एक विमर्श, पृ. 81)

'जूठन' में अपमान झेलने के त्रासद अनुभवों की अभिव्यक्ति हमारे समक्ष विषम सामाजिक संरचना की क्रूरता, अमानवीयता की पराकाष्ठा और जाति द्वेष की निर्ममता को उजागर करती है। गरीबी से लगातार जूझते हुए भी दलित गरीब माता-पिता अपने बच्चों को शिक्षित देखना चाहते हैं। वे इस बात को समझ चुके हैं कि शिक्षा से ही उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति में बदलाव आ सकता है।

18-3 'जूठन' की वैचारिक पृष्ठभूमि

'जूठन' के लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि भारतीय समाज के बहिष्कृत वर्ग के त्रासद अनुभवों की अभिव्यक्ति द्वारा जाति-व्यवस्था की निर्मम परंपराओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। लेखक का उद्देश्य जाति आधारित संरचना में अछूत कहे गए वर्ग को तुच्छता का अहसास करा देने वाले अमानवीय उत्पीड़न, के विविध आयामों को मात्र वर्णित करना ही नहीं है बल्कि अपमानित होने के असहनीय दर्द और मर्मांतक पीड़ा सहने की विवशता के साथ-साथ जातिगत संरचना में व्याप्त विषमता के कारणों की पड़ताल करना भी है। आत्मकथन में अभिव्यक्त जाति आधारित उत्पीड़न को मात्र सामाजिक बहिष्करण के ही नहीं बल्कि आर्थिक बहिष्करण के साथ जोड़कर देखे जाने को लेखक ने गंभीरता के साथ उपस्थित किया है। जाति व्यवस्था में उच्च या निम्न श्रेणी निर्धारण के साथ ही उत्पादन प्रक्रिया में हिस्सेदारी प्राकृतिक संसाधनों के अधिकार से और व्यवसाय चुनने के अधिकार से वंचित इसलिए संपूर्ण भारत में दलित वर्ग अर्थव्यवस्था की इस संरचना में पूर्णतः अनुपस्थित है। बहिष्करण और उत्पीड़न के सभी आयामों को आत्मकथन अपने में समेटकर समाज के समक्ष अनेक प्रश्न उपस्थित करता है। दलित जीवन की त्रासद स्थिति से मुक्ति की तीव्रता इसके मूल उद्देश्य में शामिल है। हिन्दी के आभिजात्य साहित्य में दलित जीवन यथार्थ और शोषण की परंपरा संबंधी अभिव्यक्ति लगभग नहीं है। दलित साहित्य ने इस अवरोध को तोड़कर बहुआयामी शोषण परंपरा की नृशंसता को पर्त दर पर्त खोलकर, इसे नकारते हुए इस निर्धन, क्रूर व्यवस्था पर आघात करके संपूर्ण परिवर्तन का मानो संकल्प लिया है। यह प्रतिबद्धता का साहित्य डॉ. आंबेडकर के समतामूलक समाज निर्माण के स्वप्न को साकार करने के लिए रचनात्मक कृतसंकल्प स्तर पर दिखाई देता है। इसकी चाहत में ऐसा समाज शामिल है जो समता, स्वाधीनता, बंधुत्व और न्याय के मूल्यों पर आधारित होगा। इसलिए इसका विद्रोही तेवर वर्ण-जाति-दास्य को प्रश्रय देने वाली ब्राह्मणवादी सोच पर कठोर प्रहार करता है। वह विषमतामूलक, शोषण, उत्पीड़नकारी व्यवस्था को नकारकर समतामूलक समाज निर्मित को दलित वर्ग की चेतना में उतारता है। वह वर्चस्व के दैवी आधारों की अवैज्ञानिक, अमानवीय, तर्कहीन जड़ता के विरोध में मोर्चा खड़ा करता है। 'जूठन' के लेखक मनुष्य के विकासक्रम को वैज्ञानिक दृष्टि से परखे

जाने का विचार प्रस्तुत करते हैं। लेखक अपने जीवन के त्रासद यथार्थ का चित्रण करके तमाम जातिवादी, शोषणवादी परंपराओं, रूढ़ियों को तोड़ने की अपील करते हैं। नया समाज बनाने की दिशा में अग्रसर दलित मुक्ति आंदोलन का नैतृत्व करते वे नजर आते हैं। आभिजात्यतावादी सौंदर्यशास्त्र के मानदंडों को नकारते हुए विद्रोही साहित्य का नया समाजशास्त्र व सौंदर्यशास्त्र निर्मित करते हैं।

18.4 अवमानना व बहि"कार

स्वाधीनता के बाद के पहले शिक्षित पीढ़ी अस्पृश्यता का दंश झेलते हुए बचपन गुजारने का दर्द और पिछली पीढ़ का दर्द कत्तई भिन्न नहीं है। यह वह ऐतिहासिक सत्य है जिसे दलित रचनाएं आज के अनुभवों को उजागर करके उस समाज की नग्न वास्तविकता से रूबरू करा देते हैं। साहित्य की पूर्व परंपराओं को अस्वीकार करती हुई जनसामान्य की बेहतर जीवन की आकांक्षा सम्मानजनक व्यवहार आर्थिक उत्पादनों में भागीदारी, समतामूलक समाज की स्थापना द्वारा शोषणमुक्त दलित साहित्य की मूल्यगर्भ चेतना है। दलित आत्मकथनों में अभिव्यक्त समूह मन सामाजिक परिवर्तन और शोषण से मुक्ति की आकांक्षा में जी रहा है। नारकीय जीवन से मुक्ति की निरंतर छटपटाहट, अन्याय के विरोध के अथक प्रयास, शारीरिक-मानसिक हिंसा से टूटते मनोबल को फिर से संवारकर उठने की आकांक्षाप्रयास लेखकीय अनुभवों से समूह के अनुभव एकाकार होते हैं। संविधान ने भारत के नागरिक के रूप में जो पहचान जनतांत्रिक माँग है जो उन्हें दी है। लेकिन जाति की सोपानीकृत व्यवस्था इन्सान की जन्मगत पहचान को ही प्रमुखता देती है। व्यक्ति द्वारा अर्जित योग्यता विद्वता और सामर्थ्य से मिली पहचान जन्म से मिली पहचान के सामने तुच्छ हो जाती है। जन्मगत श्रेष्ठता के अहंकार से ग्रसित मानसिकता व्यक्ति विशेष के साथ जातिगत तिरस्कार और घृणा का व्यवहार करने या अपमानित करने में हिचकिचाहट महसूस नहीं करती। लब्धप्रतिष्ठित लेखक और भारत सरकार के संस्थान में अधिकारी के पद पर सेवारत वाल्मीकि के साथ डी.एस.सी नए कमांडेंट से मुलाकात के दौरान कमांडेंट को व्यवहार में यकायक आए बदलाव में जातिगत अहंकार झलकता चाहे फौज के अधिकारी हो अथवा ब्राह्मण समझकर ओमप्रकाश वाल्मीकि से प्रेम करने वाली प्राध्यापक कुलकर्णी की बेटी सविता, वाल्मीकि के दलित होने का पता चलते ही सभी का उनके प्रति व्यवहार तिरस्कार में बदल जाता है। अचानक बातचीत का सिलसिला खंडित होकर उनका असहज हो जाना, खामोशी का छा जाना, माहौल का बोझिल होना, संवाद एकाएक रुक जाना, इसे सामने बैठे व्यक्ति के प्रति तिरस्कार का भाव अनादर, अवमानना दर्शाना ही कहा जाएगा। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने जाति के कारण झेली इस चुभन को सार्थक शब्दों में अभिव्यक्त किया है "ऐसी एक नहीं, अनेक घटनाएं हैं। बचपन से लेकर आज तक न जाने कितने दंश जिस्म पर ही नहीं, मन पर भी चुभे हैं।" इस घृणा-द्वेष के पीछे कौन से ऐतिहासिक कारण हैं? जब-जब भी वर्ण-व्यवस्था को आदर्श मानने वालों और हिंदुत्व पर गर्व करनेवालों से पूछा तो सीधे उत्तर देने के बजाय बात को अक्सर टाल जाते हैं या नाराज हो जाते हैं। ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें कहेंगे। लेकिन इस सच्चाई को स्वीकार नहीं करेंगे कि आदमी को जन्म के आधार पर से वंचित रखना किसी भी तरह न्यायसंगत नहीं है। सवर्णों के मन में कई प्रकार के पूर्वाग्रह हैं जो आपसी संबंधों को सहज नहीं होने देते हैं। जातिव्यवस्था की संकीर्णता की सच्चाई को उजागर करते हुए जाति निहाय सामाजिक मूल्यों को आत्मकथन प्रशंकाकित करता है दो इन्सानों के बीच के प्रेम संबंध जाति के झूठे मिथक से प्रभावित होकर संवादहीनता की स्थिति पैदा कर देता है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि सम्मान के सामाजिक मूल्य जातिनिरपेक्ष नहीं हैं। व्यक्ति की प्रतिष्ठा अथवा व्यक्ति को प्राप्त सम्मान समाज संरचना में उसके सामाजिक स्तर पर निर्धारित है। जाति व्यवस्था व्यक्ति के गुण और व्यक्ति द्वारा अर्जित योग्यता को नकारती

है। जाति निहाय सामाजिक मूल्यों से हमारी समाज व्यवस्था निर्देशित होती हैं। दलित आत्मकथाएं दलित जीवन की सभी जटिल समस्याओं और संघर्षों को उजागर करते हुए इस असमान व्यवस्था को प्रश्नांकित करती हैं। लेखक अपने जाति दग्ध अनुभवों को प्रामाणिकता के साथ कलमबद्ध करते हुए बार-बार अतीत के उन अपमानजनक समय से मानों फिर गुजरता है, तब स्वाभाविक रूप से वह अत्यधिक पीड़ा, वेदना, क्षोभ और क्रोध से भर उठता है। जिन्होंने उनके जीवन को नारकीय बना दिया और ऐसा करना वे अपना अधिकार मानते आ रहे हैं, लेखक उन्हें सचेत करते हुए इस स्थिति में प्रतिबद्धता के साथ परिवर्तन लाने का ऐलान भी करता है। लेखक के विकसित आत्मबोध ने मूक समुदाय की वेदना (जो भेदभाव की विषम नीतियों और आर्थिक गैर-बराबरी की धर्मनीतियों का परिणाम है) को शब्दबद्ध करके चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को बेपरदा किया है। लेखक जब अनुभवों को शब्दबद्ध करता है तो वह मात्र उसके नहीं बल्कि उसकी पिछली कितनी ही पीढ़ियों के अनुभवों को अभिव्यक्ति दे रहा होता है। स्वतंत्रता के बाद की पहली शिक्षित दलित पीढ़ी ने जाति निर्मूलन की वैचारिकी को केन्द्र में रखकर समग्र समता और सम्मान की मूल्य स्थापना के लिए रचनात्मकता के क्षेत्र में सोच समझकर प्रवेश किया। सदियों तक जिन्हें शिक्षा, व ज्ञान से वंचित रखा गया, यहाँ तक कि अस्पृश्यों द्वारा वेद सुनने या उच्चारण करने पर उनके मुख में दस अंगुल लंबी तप्त लोहे की सलाख डालने और कानों में उबलता शीसा उड़ेल कर प्राण दंड देने के धर्म आदेशों का पालन तीन सहस्र वर्षों तक बेरोक-टोक चलता रहा। लिखने और पढ़ने के अधिकार से वंचित अछूत वर्ग को सर्वप्रथम क्रिश्चियन मिशनरी ने शिक्षा का अवसर दिया था। ब्राह्मण वर्ग ने धर्म विरोधी आचरण बताकर ईसाइयों के इस मानवतावादी कार्य का लगातार विरोध किया। महान समाज सुधारक म.जोतिबा फुले और सावित्री बाई फुले ने अछूतों और लड़कियों के लिए पुणे में पहली पाठशालाएं 1950 में प्रारंभ की थीं। फुले पति-पत्नी को इस प्रयास के लिए प्रशंसा मिलनी चाहिए थी, लेकिन पुणे के सनातनी ब्राह्मणों ने उन पर जानलेवा हमले करवाए और उनके द्वारा शुरू किए विद्यादान के इस महान कार्य को रोकना चाहा। सावित्री बाई को पाठशाला में जाते समय भयंकर अपमान सहना पड़ता। उन पर कीचड़, गोबर फेंक कर अभद्र गालियां देकर उन्हें भयभीत करके हतोत्साहित करने के प्रयास किए गए। लेकिन देश की प्रथम शिक्षिका सावित्री बाई फुले ज्ञान की ज्योति से दलित व लड़कियों के जीवन को शिक्षा के द्वारा प्रकाशमान व प्रदीप्त करने के लिए प्रतिबद्ध थीं। पुणे के ब्राह्मणों के इस प्रकार के सनातनी व प्रखर विरोध के बावजूद वे अपने उद्देश्य प्राप्ति के लिए अटल बने रहीं।

18.5 जाति का सामाजिक-आर्थिक पक्ष

दलित रचनाकार कल्पनातीत जीवन अनुभवों को सभी के साथ सांझा करते हुए, समाज रचना की उन विद्रूपता को सामने लाते हैं, जिस पर हिंदी भाषा का रचनात्मक क्षेत्र लगभग चुप्पी साधे रहा। हम आपको यह बताना चाहते हैं कि हमारी समाजव्यवस्था का ताना-बाना जाति के धागों से बना हुआ है। यहाँ पर एक जाति में जन्में व्यक्ति को उसके अंत तक उसी पहचान के साथ जीना पड़ता है, उसकी योग्यता, गुणवत्ता, उच्चशिक्षा अथवा व्यवसाय से भी जन्मगत पहचान नहीं बदलती। किसे सम्मानित और किसे अपमानित या प्रताड़ित किया जाए इसकी नीति जाति संरचना संस्कृति और व्यवहार में पहले से तय है। यह विभाजन सामाजिक रचना तक सीमित नहीं बल्कि इस प्रस्थापित नीति का आर्थिक क्षेत्र में भी वर्चस्व है। जहाँ पर जाति श्रेष्ठता की मनमानी चलती रही है। जाति आधार पर ही व्यक्ति का आर्थिक स्तर भी सुनिश्चित है। कनिष्ठ जातियाँ श्रमिक वर्ग में और वरिष्ठ जातियाँ मालिक वर्ग के रूप में चिन्हित हैं। व्यवसायों का बँटवारा भी जाति आधार पर किया गया है। सभी मूल्य कार्य कनिष्ठ जातियों पर जोर-जबरदस्ती थोपे गए हैं और उन्हें

इसे करते रहने के लिए सामाजिक दबाव बनाए रखने के लिए क्रूरता की हदें भी पार करते हुए देखा जा सकता है। उत्पादन के सभी साधन और प्राकृतिक संसाधनों तक पर मात्र श्रेष्ठ जातियों का ही अधिकार था (अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रीय और वैश्यों का) इस देश के संपूर्ण संसाधनों पर आज के समय में भी इन्हीं कथित श्रेष्ठ जातियों का अधिकार है। गुलामों की श्रेणी में रखे गए शूद्र को तीनों वर्णों की सेवा के लिए धर्म आधारित जाति संरचना में उपलब्ध कराया गया है। अतिशूद्र जो (दलित) इस वर्ण व्यवस्था से बाहर है, जिसे अस्पृश्य माना गया है, अस्पृश्यता के कारण वह निकृष्ट घृणित, अस्वच्छ, कामों को बेगारी में करें यह उस पर पाबंदी लगा दी है।

यदि हम इसे अधिक सरल शब्दों में बताएं कि शोषण की परंपरा के निर्वाह के लिए अतिशूद्रों के कर्तव्य निश्चित कर दिए। इन नियमों का उल्लंघन करने पर मृत्युदंड जैसी सजाओं की व्यवस्था धर्म के विधिविधानों में रखी गई। काम का यह बँटवारा जाति निहाय किए जाने से इसके परिवर्तन पर प्रतिबंध लग गया। इसे समझना बहुत आसान है कि जन्म के सिद्धांत को पिछले जन्मों के कर्म से और व्यक्ति के भाग्यवाद से जोड़ दिया गया, जिसे ईश्वरनिर्मित होने का भ्रम फैलाया गया और तब वह अपरिवर्तनीय बताया गया। जन्म-कर्म-भाग्य के सिद्धांत को धर्म से और धर्म को ईश्वर से जोड़ने के अवैज्ञानिक तर्क पर दासता की नीति बनाई गई। श्रम से जुड़ी जातियाँ शूद्र-अतिशूद्र-अंत्यज-अछूत-चांडाल की श्रेणी से कभी ऊपर नहीं उठ सकेगी और गुलामों की स्थिति में कोई बदलाव नहीं होगा। इसके लिए धर्म-ईश्वर और जन्म-कर्म सिद्धांत को व्यवहार में लागू करने की जिम्मेदारी तीनों श्रेष्ठ वर्ण और जातियों को ही सौंप दी गई। श्रेष्ठता, वर्चस्व, सत्ता और संपदा को हासिल करने का इतना आसान तरिका हाथ आने पर तीनों वर्णों ने इस पर अमल ही नहीं किया बल्कि सदा के लिए एक लिखित नियमावली बनाकर गरीब, अशिक्षित, निरीह जनसमूह पर गुलामी लादी गई।

श्रम विभाजन के साथ ही श्रमिकों के विभाजन से श्रमिक जातियाँ विशिष्ट व्यवसायों को करने के कारण अनेकानेक जातियों में विभाजित होती गई। सवर्णों द्वारा दमन, शोषण, हिंसा और उत्पीड़न किए जाने को धर्मशास्त्रों से मिले समर्थन के कारण अस्पृश्य अपनी दयनीय स्थिति और गुलामी को भाग्य और जन्म-कर्म के विधान के रूप में स्वीकारते चले गए। उनमें व्याप्त अशिक्षा से अंधविश्वास मजबूत होता चला गया तथा अछूतों ने अपनी उस शोषित स्थिति को भाग्य मानकर समझौता कर लिया। डॉ. आंबेडकर अपने एक निबंध में जिसका शीर्षक "वह समाज जिसे हिन्दुओं ने बनाया" में कहते हैं कि जब वर्तमान जाति व्यवस्था की जननी वर्ण व्यवस्था की योजना तैयार की गई थी, तब आदिम और जरायम जातियाँ विचाराधीन नहीं थीं। अतः उनके दर्जे और स्थान के बारे में कुछ नहीं कहा गया। पर अछूत जातियाँ वर्ण व्यवस्था के समय विचाराधीन थीं। इसलिए उनको सामाजिक श्रेणी, काम-धंधे रहने की जगह और उनके साथ और उनके द्वारा किए जाने वाले व्यवहार के नियम निर्धारित हैं। मनु ने अपने नियमावली में साफ कहा है कि वर्ण चार हैं और पाँचवाँ वर्ण नहीं है। इसका मतलब यह है कि मनु ने अछूतों को पाँचवें वर्ण के रूप में वर्ण व्यवस्था के महल में प्रवेश कराने से इनकार कर दिया था। इसलिए अछूतों को वर्ण बाह्य (वर्ण व्यवस्था के बाहर के लोग) कहा गया। हिंदू समाज में उनके लिए कठोर वर्जनाएं हैं। सनातनी हिंदू नेता ऐनापुरे शास्त्री ने अछूतों के लिए कहा है कि जिस तरह मनुय जूता पहनता है, पर जूता शरीर का अंग नहीं है।"

मजदूरी के लिए सवर्ण जमींदार, व्यापारी, महाजन, साहूकारों पर निर्भर है। जन्मना अछूत माने गए इस कारण अन्न-धान्य, फल-सब्जी, पशुधन से प्राप्त दूध आदि को इकट्ठा करने, संवर्धन करने अथवा बेचने जैसे काम उनसे नहीं कराए जाते। खेत खलियानों में हल जोतने, मवेशियों को चराने, गोबर उठाने, मरे हुए जानवरों को उठाने, गांवों में सवर्णों

के घरों की शादि-व्याह में आंगन की लिपाई, पुताई, सफाई करने जैसे परिश्रम के काम उन्हीं से करवाए जाते। इनमें से अधिकतर बेगार में हीं करवाए जाते। काम न करने या काम से जी चुराने का उन्हें हक ही नहीं दिया गया। बेगार में करवाए गए काम के बदले में रात को प्रत्येक घर से मात्र एक रोटी और फसल कटाई के बाद मात्र पाँच किलो अनाज देने की परंपरा है, जिसे देने पर सवर्ण साहुकार और जमीनों के मालिक ऐसा आभास निर्मित करते हैं, जैसे कि वे उन पर बहुत भारी उपकार कर रहे हैं।

ओमप्रकाश इस दारुण स्थिति का मार्मिक चित्रण करते हैं।

"फसल-कटाई को लेकर अक्सर खेतों में हुज्जत चलती रहती थी। मजदूरी देने में ज्यादातर तगा कंजूसी बरतते थे। काटनेवालों की मजबूरी थी। जो भी मिलता, थोड़ी-बहुत ना-नुकर के बाद लेकर घर लौट आते। घर आकर कुढ़ते रहते या तगाओं को कोसते रहते। लेकिन भूख के सामने विरोध दम तोड़ देता था। हर साल फसल-कटाई को लेकर मोहल्ले में बैठकें होतीं। सोलह पूली पर एक पूली मेहनताना लेने की कसमें खाई जातीं। लेकिन कटाई शुरू होते ही बैठकों के तमाम फैसले, कसमें हवा हो जाते थे। इक्कीस पूली पर एक पूली मजदूरी मिलती थी। एक पूली में एक किलो से भी कम गेहूँ निकलते थे। भारी से भारी पूली में एक किलो गेहूँ नहीं निकलता था। यानी दिन भर की मजदूरी एक किलो गेहूँ से भी कम।"

18.5.1 सामाजिक विद्रोहियों से अवमानित दलित

ओमप्रकाश अपने सहपाठी मित्र हिरमसिंह की शादी में पिताजी के साथ गए थे। शादी के दूसरे दिन विदाई से पहले दूल्हे को गांव की रस्म के अनुसार 'सलाम' के लिए जाना था। उसकी सास जिन जिन घरों में सफाई का काम करती थी उन घरों से दूल्हे-दूल्हीन को नेग मिलने की खातीर ढोल बजाते हुए ले गई थी। साथ में ओमप्रकाश को भी जाना पड़ा। दूल्हे को प्रत्येक घर के सामने खड़ा करके उस घर के लोगों से हिरम की सास कुछ रुपये या कपड़े, बर्तन मिलने की आशा में गुहार लगाती। जवाब में सुनना पड़ता "इन चूहड़ों का तो कभी पेट ही ना भरता।" हिरम स्कूल में पढ़ता है यह सुनकर उन घरों की महिलाओं को खुशी नहीं होती बल्कि तिरस्कार से देखते हुए ओमप्रकाश से पूछती है "तू भी-पढ़े है?" मैंने हाँ में गर्दन हिलाई। तू कौन सी किलास में है?

"नाँवी की परीक्षा दी है।" अगला सवाल अपमानित करने वाला था "चूहड़ों के जातक (बच्चे) भी पढ़ने जावें है मदरसे में" उसे आश्चर्य हो रहा था।

"कितना बी पढ़ लो.....रहोगे तो चूहड़े ही," कहकर उसने अपने भीतर की भड़ास निकाली और अंदर चली गई। श्रेष्ठता का दंभ भरा आचरण और व्यवहार से दलितों में हीनताबोध पैदा करता है, जिससे बचने का उनके पास कोई उपाय नहीं है। ऐसी प्रथाएं मात्र इसीलिए जीवंत रखी गईं, जिसके द्वारा दलितों को उनकी हीन-दीन स्थिति से हर समय अवगत कराया जाये तथा श्रेष्ठत्व के दंभ को बरबरा रखा जाए। दलित जीवन को एक अभिशाप में बदलने के ऐसे सैकड़ों प्रसंगों का मार्मिक चित्रण जूठन में किया गया है। दलितों के बच्चे स्कूल से बड़ी संख्या में बाहर हो जाते हैं क्योंकि सहपाठियों द्वारा 'चूहड़ा' चूहड़े जैसे जाति नाम से पुकारा जाना, शिक्षकों द्वारा दलित बच्चों के खानपान पुराने कपड़े पहनने को मजाक बनाना, पूरी कक्षा के सामने अपमानित करना उनके अहंत्व का हिस्सा बना हुआ है। मेधावी छात्रों को आगे बढ़ने से रोकने में शिक्षकों की भूमिका नकारात्मक है।

'अबे चूहड़े के', 'चूहड़े का है?' सूअर की कितनी साटे खाई हैं? (सूअर का गोश्त) एक पाव तो खा ही लेते होंगे? शिक्षक द्वारा छुआछूत मिटाने के प्रयास किए जाने चाहिए लेकिन वे खुद ही दलित छात्रों को प्रताड़ित, अपमानित करने की प्रवृत्तियों को बढ़ावा दे रहे होते हैं। सहपाठी भी शिक्षक से प्रेरणा लेकर ओमप्रकाश को छेड़ते रहते, "अबे चूहड़े के, सूअर खाता है। 'चूहड़े के, तेरे तो सींग निकल आए हैं।' तू तो बड़ी शेखी में रहता है। 'तेरी तो चाल ही बदल गई।' कितना भी पढ़ लियो, रहेगा तो चूहड़ा ही-"

गांव के अन्य लोग भी जली कटी सुनाने से चूकते नहीं। दलितों का पग-पग पर अनादर करना मानों अदलित संस्कृति का अनिवार्यता ही है और यह जातिगत भेदभाव का सिलसिला गांवों तक ही नहीं रुकता बल्कि शहरों में भी अपने उसी आदिम व क्रूर रूप में उपस्थित है। बचपन के इन दारुण अनुभवों ने ओमप्रकाश को अंतर्मुखी और चिड़चिड़ा बना दिया था। इस प्रकार अपमानित होने के अनुभव बचपन से लेकर युवा होने तक निरंतर रूप में दलित व्यक्ति के व्यक्तित्व को बौना बना देती है। वह कहीं भी कभी भी नकारे जाने की पीड़ा को झेलता रहने को विवश कर दिया जाता और इसके लिए जिम्मेदार वर्चस्ववादी संकीर्ण परंपरा के निर्वाह में कथित श्रेष्ठवर्ग सामाजिक परिवर्तन के प्रति सचेतन नहीं हो पाया है। लेखक अवमानना से आहत मन की वेदना को बयान करते हुए लिखते हैं। 'बचपन की कई ऐसी घटनाएँ मन के भीतर पसरी हुई हैं, जो अतीत के काले स्याह दिनों की साक्षी हैं।'

जातिव्यवस्था के समर्थन का परिणाम हमें भेदभावपूर्ण सामाजिक व सांस्कृतिक ढाँचे के संवर्धन, पुनःनिर्माण, संयोजन के रूप में दिखाई देता है। धर्म का कर्मकांडी प्रयोजन भयनिर्मिति के साधन के रूप में किया जाता है। इन्हीं आडंबरों के द्वारा दलितों-अछूतों को शिकंजे में जकड़कर रखा जाता रहा। ईश्वर-धर्म, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म, भाग्यवाद जैसी अवैज्ञानिक तर्क निर्मिति द्वारा अशिक्षित जनों में गहरा विश्वास पैदा करके उसकी आड़ में सनातनी वर्चस्ववाद फूलता-फूलता है। धार्मिक, सामाजिक दबाव में दलितों से परिश्रम के काम बेगारी में करवाए जाते हैं। ऐसे ही श्रम के दोहन और शोषण के द्वारा दलितों से बेगारी में काम करवाने के प्रसंग को ओमप्रकाश चित्रित करके जाति से निर्धारित शोषणमूलक व्यवस्था का विरोध करते हैं। "उन दिनों गाँव में मरने वाले पशुओं को उठाने का काम भी चूहड़ों के जिम्मे था। जिनके घर में जो काम करता था, उनके पशु भी उसे ही उठाने पड़ते थे। इसके बदले में कोई मेहनताना या मजदूरी नहीं मिलती थी। एक गाय, एक भैंस या बैल को उठाने के लिए चार से छह लोगों की जरूरत पड़ती थी। जिसका मवेशी मर जाता था, उसे जल्दी लगी रहती थी। इसलिए वह बार-बार बस्ती में आकर चिल्लाता था। देर होने पर गालियाँ बकता था। उठाने वालों को इकट्ठा करने में अकसर देर हो जाती थी।"

दलित साहित्य की वैचारिकी का महत्वपूर्ण विस्तार दलित चेतना में परिवर्तित होकर शोषण की इस पुरातन परंपरा पर प्रश्नचिह्न लगाती है। शोषकों द्वारा धर्म और जातिश्रेष्ठता के अनैतिक, अवैज्ञानिक इस्तेमाल की कड़ी आलोचना प्रस्तुत करती है। दमन-शोषण की अमानवीयता के धार्मिक-सामाजिक आर्थिक पक्ष को उजागर करके 'जूठन' सामाजिक जड़ता पर आघात करता है।

18-5-2 जाति का आर्थिक संदर्भ

धर्म द्वारा अपरिवर्तनीय बना दी गई जातिवादी संस्कृति ने सामाजिक घेरेबंदी की सहायता से समता, सहभागिता, प्रेम, करुणा, बराबरी की हिस्सेदारी जैसे जनतांत्रिक मूल्यों को नकार कर विषमता को प्रश्रय दिया। विषमतामूलक सामाजिक संरचना आर्थिक असमानता

को मजबूत करके अंततः दास्यत्व की परंपरा का निर्वाह करती है। जाति अपने आप ही आर्थिक व्यवस्था को भी नियंत्रित करने की एक जटिल व्यवस्था है। उत्पादन के आर्थिक संसाधनों में दलितों की हिस्सेदारी को मनु द्वारा प्रेषित विधि विधानों ने सिर से नकार कर जो तीनों कथित श्रेष्ठ वर्णों की (वर्ण-जाति) सेवा के लिए दलितों को 'दास' श्रेणी में रखा। उत्पादन के आर्थिक संसाधनों को तीनों वर्ण के अधिकार में कर देने से जो जीविकोपार्जन के लिए इन्हीं वर्णों पर निर्भर रहें। निम्न श्रेणी में रखे जाने पर अस्वच्छ, घृणित माने गए काम, और व्यवसाय करने की अनिवार्यता भी उन पर थोप दी।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने स्वाधीनता के बाद के दशकों में भी दलितों की आर्थिक दुरावस्था के चित्रण द्वारा हिन्दी प्रदेशों में जारी जाति प्रथा की कट्टरता को उजागर किया है। उत्पादन के साधनों से वंचित कर दिया गया दलित वर्ग मजदूरी के लिए पूर्णतः सवर्ण जमींदारों पर ही निर्भर होता है। अन्न-धान्य, फल-सब्जी, दूध बेचने यहाँ तक कि कपड़े बेचने जैसे व्यवसाय करने से भी यहाँ की जड़मूल जाति प्रथा उन्हें रोकती है। अस्पृश्यता के कारण कोई भी सवर्ण उनसे ये वस्तुएं खरीदता नहीं। खेत खलियान जोतने, मवेशी चराने, गोबर उठाने, मरे हुए जानवरों को उठाने, गांव के सवर्णों के घर की शादी-ब्याह उत्सव, पर्व में उनके घर आंगन की लिपाई, पुताई, और सफाई करने जैसे परिश्रम के काम उन्हीं के जिम्मे डाले गए हैं। अधिकतर ये काम बेगार में ही करवाए जाते। परिश्रम के बदले में प्रत्येक पशु पर एक रोटी और फसल के बाद सारे काम के बदले में मात्र पाँच किलो अनाज देकर, जमीन मालिक उन पर बहुत भारी उपकार करने का अहसास भी जताते हैं।

'जूठन' में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने इस दारुण स्थिति का मार्मिक चित्रण करके गांवों में सत्ताधारियों द्वारा उत्पीड़न, शोषण के अपनाए जा रहे बरबरतापूर्ण तरीकों से अवगत कराते हुए दलितों के आर्थिक शोषण की सच्चाई से रूबरू किया है।

"फसल-कटाई को लेकर अक्सर खेतों में हुज्जत चलती रहती थी। मजदूरी देने में ज्यादातर तगा कंजूसी बरतते थे। काटने वालों की मजदूरी थी। जो भी मिलता, थोड़ी-बहुत ना-नुकर के बाद लेकर घर लौट आते। घर आकर कुदते रहते या तगाओं को कोसते रहते। लेकिन भूख के सामने विरोध दम तोड़ देता था। हर साल फसल-कटाई को लेकर मोहल्ले में बैठकें होतीं। सोलह पूली पर एक पूली मेहनताना लेने की कसमें खाई जातीं। लेकिन कटाई शुरू होते ही बैठकों के तमाम फ़ैसले, कसमें हवा हो जाते थे। इक्कीस पूली पर एक पूली मजदूरी मिलती थी। एक पूली में एक किलो से भी कम गेहूँ निकलते थे। भारी से भारी पूली में एक किलो गेहूँ से भी कम।"

दलितों के पास आमदनी का उनका अपना साधन न होने, भूस्वामियों पर आर्थिक निर्भरता और परिणामतः गरीबी, भुखमरी, अभाव के चक्र से छुटने के प्रयास अक्सर असफल ही हो जाते। अच्छा और पेटभर भोजन उन्हें कभी प्राप्त नहीं हो सका इसलिए जब कभी गांव के जमींदारों या तगाओं के घर में शादी-ब्याह होने की खबर आती तो दलितों के बीच हर्ष की लहर दौड़ जाती। शादी-ब्याह के आयोजन से पूर्व सारे परिश्रम के काम दलितों से बेगारी में ही करवाए जाते, उन्हें यह आशा दी जाती कि काम के बदले में उन्हें भरपेट अच्छा जायकेदार भोजन मिलेगा। सुखदेव त्यागी के लड़की की शादी में माता-पिता द्वारा किए गए परिश्रम को याद करके ओम प्रकाश लिखते हैं, "सुरेन्द्र तब पैदा भी नहीं हुआ था। उसकी बड़ी बुआ यानी सुखदेव सिंह त्यागी की लड़की की शादी थी। उनके यहाँ मेरी माँ सफाई करती थी। शादी से दस-बारह दिन पहले से माँ-पिताजी ने सुखदेव सिंह त्यागी के घर-आँगन की सफाई, लिपाई-पुताई से लेकर अनेक काम किए थे। बेटा की शादी को गाँव भर की इज्जत का सवाल माना जाता था। कहीं कोई कमी न रह जाए। गाँव भर से चारपाइयाँ ढो-ढोकर जनवासे में इकट्ठी की थीं पिताजी ने।

बारात खाना खा रही थी। माँ टोकरा लिए दरवाजे से बाहर बैठी थी। मैं और मेरी छोटी बहन माया माँ से सिमटे बैठे थे। इस उम्मीद में कि भीतर से जो मिठाई और पकवानों की महक आ रही है, वह हमें भी खाने को मिलेगी।

जब सब लोग खाना खाकर चले गए तो मेरी माँ ने सुखदेव सिंह त्यागी को दालान से बाहर आते देखकर कहा, "चौधरी जी, ईब तो सब खाना खा के चले गए...म्हारे जाकतों (बच्चों) कू भी एक पत्तल पर धर के कुछ दे दो। वो बी तो इस दिन का इंतजार कर रहे ते।"

सुखदेव सिंह ने जूठी पत्तलों से भरे टोकरे की तरफ इशारा करके कहा, "टोकरा भर तो जूठन ले जा री है...ऊपर से जाकतों के लिए खाना माँग री है? अपनी औकात में रह चूहड़ी। उठा टोकरा दरवाजे से और चलती बन।"

सुखदेव सिंह त्यागी के वे शब्द मेरे सीने में चाकू की तरह उतर गए थे, जो आज भी अपनी जलन से मुझे झुलसा रहे हैं।

उस रोज मेरी माँ की आँखों में दुर्गा उतर आई थी। माँ का वैसा रूप मैंने पहली बार देखा था। माँ ने टोकरा वहीं बिखेर दिया था। सुखदेव सिंह से कहा था, "इसे ठाके अपने घर में धर ले। कल तड़के बारातियों को नाश्ते में खिला देना..."

हम दोनों भाई-बहनों का हाथ पकड़ के तीर की तरह उठकर चल दी थी। सुखदेव सिंह माँ पर हाथ उठाने के लिए झपटा था, लेकिन मेरी माँ ने शेरनी की तरह सामना किया था। बिना डरे।

“उसके बाद माँ कभी उनके दरवाजे पर नहीं गई और जूठन का सिलसिला भी उस घटना के साथ बंद हो गया था।”

भारतीय सामाजिक संरचना में सबसे निम्न श्रेणी में चिन्हित समाज से बहिष्कृत अछूतों के आर्थिक उत्पादन के छीने जाने से उन्हें आधार दूसरों की (सवर्ण) जूठन पर जीने के लिए मजबूर करने की परंपरा का समर्थन तथा नियंत्रण धर्म के हाथ में है। इस निर्णय को बदलने का अर्थ है जाति संरचना को बदलना अथवा इसका समूल निर्मूलन किया जाना। डॉ. आंबेडकर के जाति व्यवस्था निर्मूलन निबंध आलेख में उन्होंने कहा है कि ‘जूठन’ के माध्यम से ओमप्रकाश वाल्मीकि ने विषमतामूलक सामाजिक संरचना की निर्मिति के पीछे संलग्न विचारधारा पर अनुभवात्मक अभिव्यक्ति द्वारा प्रकाश डाला है। भारत के सामाजिक आंदोलनों ने निरंकुश तथा वर्चस्ववादी विचारधारा के रूप में चिन्हित किया है। लेखक का स्पष्ट मत है कि आर्थिक घेरेबंदी ने दलित समुदाय का जीवन संघर्ष दोहरा कर दिया है। पहचान व आत्मसम्मान के संघर्ष में आर्थिक संघर्ष भी सम्मिलित है।

18-6 Hkk"kk vkj f' KYi

जाति उत्पीड़न, अवमानना, तिरस्कार, वंचना, भूख, बहिष्कारजन्य त्रासद जीवनानुभवों की अभिव्यक्ति मुक्तिकामी चेतना और यथार्थवादी आग्रहों द्वारा सर्जनात्मक साहित्य के केन्द्र में स्थान पा चुकी है। आत्मकथा ‘जूठन’ व्यक्तिगत चिंतन से सामाजिक चिंतन की ओर बढ़ते हुए उत्पीड़न की बर्बर सामाजिक संरचना की समाजशास्त्री समीक्षा प्रस्तुत करके यथास्थितिवादी संस्कृति को बेनकाब करती है। डॉ. हरपाल सिंह ‘अरुश’ आत्मकथा लेखन को ‘साहसिक कदम’ मानते हैं। वे कहते हैं। “आत्मकथाएं अपने लेखकों के साथ हुए व्यवहार और उस व्यवहार की प्रतिक्रिया का खुलासा करने के दस्तावेज के रूप में सामने आती हैं।” कथित सवर्ण आलोचकों द्वारा दलित साहित्य पर विशेषकर आत्मकथनों

पर कलाहीन, नीरस, व्यक्तिवादी होने के आरोप लगाए जाते रहे हैं। हम कह सकते हैं कि हिन्दी के दलित साहित्य ने सामाजिक व्यवस्था के जिस विद्रूप को उद्घाटित किया है उसने सामाजिक विषमता के समाजशास्त्र को परखने का नया दृष्टिकोण दिया है। हिन्दी साहित्य में मौजूद कुलीनता के दंभ को वह चकनाचूर करता हुआ हाशिए के समाजों से अपने नायक-नायिका चुनता है। समाज के निम्न माने गए इस समूह ने वैदिक परंपराओं के संस्कृतनिष्ठ, कृत्रिम कलावादी मूल्यों को टुकराकर समतामूलक समाज की स्थापना के लिए नया सौन्दर्यशास्त्र निर्मित किया। हाशिए का समाज और कथित सवर्ण समाज के बीच में फैली असीम दरार को मिटाकर बहिष्कृतों को मुख्यधारा में कैसे शामिल किया जाय यह उसकी मुख्य चिंता है। दलित साहित्य इस अर्थ में मुक्ति-कामी साहित्य की भूमिका का निर्वाह करता है।

मराठी के प्रख्यात आलोचक (दिवंगत) डॉ. मनोहर वानखेड़े का मानना है कि जिस भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में दलित साहित्य की आशयनिष्ठ समीक्षा करने की क्षमता न हो, उस सौन्दर्यशास्त्र को टुकरा देने में कोई हानि नहीं है, क्योंकि आकृतिनिष्ठ भूमिका से दलित साहित्य को न्याय मिलने वाला नहीं है। संघर्ष का साहित्य अनुभवनिष्ठ होता है, यह अनुभव अत्यंत पीड़ादायी, अपमानित करके जीवन को नरकतुल्य बनाने वाला है। उच्च वर्ग द्वारा दिया यह संत्रास आभिजात्य साहित्य सृजन के क्षेत्र में प्रवेश करने से रोक दिया गया। यह संदर्भ अस्पृश्यों के जीवन से जुड़े होने से उसे अपवित्रता का आख्यान माना गया अर्थात् साहित्य के कथित पवित्र क्षेत्र में प्रवेश करने पर प्रतिबंध रहा। दलित लेखन ने आभिजात्यता के दंभ को तोड़ने का साहस किया इसकी सृजनात्मक अभिव्यक्ति ने अस्पृश्यता की जघन्य बर्बर-पाशविकता का प्रखर विरोध किया गया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि का कहना है कि पारंपरिक मूर्धन्य आलोचक दलित साहित्य को पूर्व परंपरागत संस्कृतनिष्ठ काव्य शास्त्रीय मानदंडों पर खारिज करते हुए इसके वस्तुगत यथार्थ, मूल्य और विचार (दर्शन) को अनदेखा करते हैं। दलित साहित्य विद्रोह और नकार के संघर्ष से उपजा है। (ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र (पृ. 49) वे आगे कहते हैं 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र पर विचार करने के लिए किसी भी कृति के आकार और आशय को दृष्टि में रखना होता है। हिन्दी साहित्य हो या संस्कृत साहित्य वह आकृतिनिष्ठ ही है। वहाँ आकार की प्रधानता है। शब्द की रमणीयता समीक्षकों के लिए बौद्धिक विकास का काम करती है।' (वही पृ. 49)

पारंपरिक संस्कृतनिष्ठ मानदंडों से दलित साहित्य में अभिव्यक्त आशय की गहराई को नापा नहीं जा सकता, जीवनवादी साहित्य मूल्यों की संघर्षवादी प्रवृत्ति से कलावादी साहित्यिक मूल्य अपने कल्पनालोक की वायवीय मनोरंजनपरकता के कारण दूर-दूर तक नाता नहीं जोड़ सकता। डॉ. म. ना. वानखेड़े ने कलावादी साहित्य विधि को नकारते हुए सच ही कहा है "जिस भारतीय सौंदर्यशास्त्र में दलित साहित्य की आशयनिष्ठ समीक्षा करने की क्षमता न हो, उस सौन्दर्यशास्त्र को टुकरा देने में कोई हानि नहीं है। क्योंकि आकृतिपरक भूमिका से दलित साहित्य को न्याय मिलने वाला नहीं है। (वही पृ. 41)

जूठन ने सामाजिक यथार्थ के उस पक्ष को सर्वविदित कर दिया, जिसे कथित आभिजात्य वर्ग ने देखकर भी अनदेखा किया। जन्म, कर्म के अवैज्ञानिक सिद्धांत गढ़कर, पुनर्जन्म व भाग्यवाद से जोड़कर सामान्य जन में धर्म के प्रति भय और आतंक की निर्मिति की इसके बाद की भूमिका धर्म की थी, धर्म के ठेकेदारों ने धार्मिक आडंबर के सहारे इस झूठ पर ईश्वर निर्मित होने से अपरिवर्तनीयता की मुहर लगा दी। धर्म द्वारा संवर्धित ब्राह्मणवाद ने अस्पृश्यता को जन्म से जोड़ दिया और वंचना, बहिष्कार, अवहेलना, उत्पीड़न और अभावपूर्ण जीवन को नियति बताकर दलितों पर थोप दिया था। 'जूठन' में यथास्थितिवाद के विरुद्ध अभिव्यक्त नकार और विद्रोह यथास्थितिवादियों की सदैव मालिक बने रहने की

आकांक्षा को चकनाचूर कर देता है। धर्म द्वारा दिखाए गए भय आतंक और सामाजिक स्थिति से समझौता करने की मानसिकता को झटककर व्यक्ति रूप में समाज की इकाई होने की पहचान, तथा अधिकार, अस्मिता के प्रति सचेत दलित वर्ग नया इतिहास रचने की ओर कदम बढ़ाता नजर आता है। 'जूठन' इतिहास में घटित अन्याय, अत्याचार, अपमान, उत्पीड़न और बहिष्कार की बनाई परंपरा को नकार कर छल कपट की उन नीतियों में छिपे सत्य से हमें रूबरू कराती है। जूठन में अभिव्यक्त व्यक्तिगत अनुभवों की व्याप्ति अभिशप्त दलित समाज के अनुभवों तक फैली है। आत्मकथन लेखन की पृष्ठभूमि के रूप में सघन होती गई वेदना के विस्फोट के बारे में डॉ. हरपाल सिंह अरुश कहते हैं "सामाजिक अन्तर्विरोध से उपजी विसंगतियों ने दलितों में गहन नैराश्य पैदा किया है, सामाजिक संरचना के परिणाम बेहद अमानवीय एवं नारकीय सिद्ध हुए हैं।" (दलित साहित्य की भूमिका, पृ. 41)

दलित आत्मकथन सामाजिक, सांस्कृतिक, और आर्थिक विसंगतियों की अभिव्यक्ति के लिए भावबोध की ऐसी भूमि का निर्माण करते हैं जिस पर एक नए सौन्दर्यशास्त्र की निर्मिति हो रही है। मनुष्य की खोयी हुई पहचान प्राप्त करने के संघर्ष को 'जूठन' उकेरता है, इसे दलित साहित्य की मूलचेतना के रूप में देखना होगा। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने सरल, लोकभाषा के प्रयोग के साथ-साथ रोजमर्रा के जीवन में प्रयोग में आने वाले मुहावरों के द्वारा दलित जीवन की सच्चाई को सशक्त अभिव्यक्ति दी है। आभिजात्य संस्कृतनिष्ठ भाषा को टुकराकर दलित साहित्य ने लोकभाषा को अपनाया है। शिष्ट साहित्य ने हमेशा से व्यवस्था के समर्थन में भाषा को कृत्रिम-अलंकृत बनाकर साहित्य को सामान्य जन की पहुँच से दूर रखा। ऐसा साहित्य मात्र मनोरंजन वायवीय कल्पना लोक में भ्रमण करने और सत्ता के केन्द्र व संस्थानों के गुणगान तक सीमित रहा। दलित साहित्य ने इस साहित्य परंपरा को तोड़कर सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक संघर्ष की अभिव्यक्ति के लिए परिवेशगत और जीवन से संपृक्त भाषा को अपनाया।

दलित जीवन यथार्थ को शब्दबद्ध करने की क्षमता उनकी अपनी बोली और भाषाएँ ही सहज रूप से उनके जीवन संदर्भों को, शोषण, अपमान, अभाव-तनाव विद्रोह, नकार को व्यक्त कर सकती हैं। डॉ. हरपाल सिंह अरुश आत्मकथात्मक शैली को अपनाने के बारे में लिखते हैं कि 'यह आत्मकथात्मक शैली ही है, जो किसी व्यक्ति के भोगे गए यथार्थ को ग्राह्य बनाती है। साथ ही इनके विश्वसनीयता का परिपक्व होने की प्रबलतम संभावनाएँ होती हैं।' (दलित साहित्य की भूमिका-पृ. 46)

bdkbz 19 अपने-अपने पिंजरे-1

bdkbz dh : i js[kk

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.3 आत्मकथा बनाम आत्मकथन

19.4 मोहनदास नैमिशराय का जीवनवृत्त एवं कृतित्व

19.5 अपने-अपने पिंजरे की कहानी : मोहनदास नैमिशराय की ज़बानी

19.5.1 लहूलुहान बचपन और स्नेह की आत्मीयता

19.5.2 आस्था की भव्यता में नास्तिकता के मंजर

19.5.3 ज्ञान के संसार में घृणा का समाजशास्त्र

19.5.4 अस्पृश्यता की वैधता का दंश

19.6 जाति व्यवस्था और अर्थतंत्र की योजना

19.7 जीवन के पतझड़ में प्रेम का बसंत

19.8 आर्थिक स्रोतों की तलाश के विविध प्रयास

19.9 जीवन की लय से निकला राजनैतिक विवेक

19.10 सारांश

19-0 mĩs ;

इस इकाई में आप हिंदी दलित साहित्य के प्रतिष्ठित लेखक मोहनदास नैमिशराय के आत्मकथन "अपने-अपने पिंजरे" का विशेष अध्ययन कर सकेंगे। अधिकांश हिन्दी आत्मकथाएँ आत्ममुग्धता का इस कदर शिकार रही हैं कि उनमें प्रायः निर्मम यथार्थ के अनेक पहलुओं की अनदेखी की गयी है। दलित आत्मकथनों ने इस जड़ता के खिलाफ निर्णायक हस्तक्षेप किया। "अपने-अपने पिंजरे" इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप परिचित होंगे -

- आत्मकथा और आत्मकथन की अवधारणाओं से;
- मोहनदास नैमिशराय की सृजन यात्रा से;
- सवर्ण श्रेष्ठता से पद-पद पर लांछित एवं प्रताड़ित मोहनदास नैमिशराय के उस बचपन से जिसने नारकीय जीवन के बीच संघर्ष का ककहरा सीखा;
- मोहनदास नैमिशराय के उस शैक्षिक परिवेश और आर्थिक संघर्ष से जिससे गुज़र कर उनकी सामाजिक, सांस्कृतिक दृष्टि परिपक्व हुई;
- वर्णवादी दुर्ग से असहमत उस संकल्प से जिससे एक रचनाकार के सरोकार आकार ग्रहण करते हैं; और
- उन संघर्षों एवं स्थितियों से जिनसे मोहनदास नैमिशराय के राजनैतिक विवेक का निर्माण हुआ।

19-2 प्रस्तावना

उत्पीड़न को ईश्वरीय न्याय और प्रारब्ध की स्वाभाविक परिणति करार देने वाली भारतीय समाज की वर्णवादी व्यवस्था ने जिस सामाजिक संरचना, आर्थिक तंत्र और विकास के मॉडल को गढ़ा है, वह अनेक अर्थों में अमानवीय ही नहीं अत्यंत क्रूर, अतार्किक और अस्वाभाविक भी है। पिछले कुछ दशकों में उभरी अस्मिता की दलित अवधारणा ने इसे जिस संवेदनशीलता और तार्किकता से अभिव्यक्त किया है, वह हिन्दी ही नहीं समस्त भारतीय साहित्य के लिए एक अनिवार्य संदर्भ है। दलित साहित्य संसार में पहली दस्तक आत्मकथनों ने दी है। प्रसंगवश विमल थोरात के इस मूल्यवान विश्लेषण को उद्धृत किया जा सकता है, "दलित आत्मकथन दलित साहित्य की सबसे सक्षम विधा के रूप में आज दलित जीवन की त्रासदी का आईना बन चुकी है। दलित लेखकों ने अपने आत्मकथन लिखकर पूरे समाज को यह बता दिया है कि हमारा जीवन जानने के लिए किसी रची हुई कहानी या आख्यान की नहीं स्वयं हमारे जीवन को देखना जरूरी है। आत्मकथनों के माध्यम से इन्होंने साहित्य को समाज का दर्पण होने का विश्वास दिया है। इसमें शक नहीं कि दलित आत्मकथनों ने हिन्दी साहित्य के मानक बदल दिये हैं।" दलित साहित्य की मूलवर्ती चेतना पारंपरिक सौंदर्य दृष्टि को नकारती है। "आलोचक बजरंग तिवारी का विश्लेषण ध्यान देने योग्य है, "दलित चेतना के मूल उद्देश्यों में से एक है, श्रद्धा केन्द्रों की असलियत का उद्घाटन।" दलित लेखन ने शुरू से ही पूज्य अवधारणाओं से बहस की है, 'पवित्र संस्कारों' की क्रूरताएं दर्ज है। पावन परंपराओं को प्रश्नबिद्ध किया है और निरापद मान लिए गए संस्थानों/स्थानों की बदसूरती को रेखांकित किया है। गाँव, स्कूल और सरकारी कार्यालय ये तीन जगहें ऐसी हैं जिनकी छवि दलित लेखन ने अपने कोण से पेश की है। यह प्रस्तुति इन स्थानों की हमारी परंपरागत समझ पर भारी पड़ती है। 'अपने-अपने पिंजरे' के विन्यास में इन तीनों सत्ता केन्द्रों की दलित विरोधी दृष्टि का बखूबी विश्लेषण किया गया है।

'अपने-अपने पिंजरे' के दोनों खंडों में दलित यातना, उसके अंतर्विरोधों और प्रतिरोध के स्वरो को मोहनदास नैमिशराय ने अपने जीवन के यथार्थ से संबद्ध किया है। लेकिन चित्रण और विश्लेषण की विशिष्टता के कारण यह आत्मकथन स्व के वृत्त का विस्तार इस तरह करता है कि सत्ता और समाज की जीवंत वास्तविकताएँ प्रकट होती हैं। वस्तुतः ऐसे ही आत्मकथनों ने दलित साहित्य को इस खूबी में समृद्ध किया कि हिन्दी साहित्य के मानकों पर पुनर्विचार और बहस की जरूरत महसूस हुई। इस इकाई में उन मुद्दों और सौंदर्यशास्त्रीय मानकों को बरास्ते 'अपने-अपने पिंजरे' में परखने का प्रयास किया जायेगा, जिनसे दलित साहित्य की अवधारणा विशिष्टता से प्रकट होती है।

19-3 आत्मकथा बनाम आत्मकथन

दलित साहित्य में दलित लेखन का पहला उन्मेष मराठी में हुआ था। मराठी में आत्मकथा के स्थान पर आत्मकथन शब्द का प्रयोग किया गया। इस तथ्य की छानबीन जरूरी है कि परंपरागत आत्मकथनों से दलित आत्मकथन किन अर्थों में भिन्न है? दलित साहित्य के सुपरिचित आलोचक महीप सिंह का कहना है, 'इस शती (20वीं सदी) के सातवें-आठवें दशक में मराठी साहित्य में उभरे दलित स्वर ने इस देश के साहित्य मानस को बुरी तरह झकझोरा था और व्यथित भी किया था।' उसमें न तो वह आभिजात्य था जिसकी हमारे मानस को आदत थी और न वह आडम्बर था, जिसे हम बड़े स्नेह से यत्नपूर्वक सहजते चले आ रहे थे। मराठी में दलित लेखकों द्वारा लिखे गये आत्मकथन इस दृष्टि से बहुचर्चित हैं और महत्वपूर्ण भी। मराठी आलोचक इन रचनाओं को आत्मकथा या आत्मचरित्र कहने

की बजाए 'आत्मवृत्त' कहना अधिक उचित समझते हैं, क्योंकि उनके कथनानुसार आत्मकथाएँ अवकाश ग्रहण के उपरांत बुढ़ापे में लिखी जाती हैं। वे स्वकेन्द्रित होती हैं। उनमें वर्णित प्रसंग कब के हो चुके होने से भूतकालीन होते हैं, 'वर्तमान' से उनका कोई सरोकार नहीं होता। आत्मकथन युवा लेखकों द्वारा लिखे गये हैं, जिन्होंने अपने वृत्तों के माध्यम से यह जानने का प्रयास किया है कि आखिर हम कौन हैं? ऐसे लेखक पीछे मुड़कर इसलिए देखते हैं कि सामने का रास्ता साफ और स्पष्ट दिखायी दे। इस प्रकार जहाँ आत्मकथाएँ परंपरागत आभिजात्य से प्रेरित-संचालित हैं, वहीं दलित आत्मकथन 'स्व' के विस्तार में उत्पीड़न के चित्रण और आत्मविश्वास की नयी इबारत को अपना लक्ष्य बनाते हैं। पारंपरिक समझ के मुताबिक प्रतिष्ठित व्यक्ति ही आत्मकथा लिख सकता है। यह लेखन व्यक्ति केन्द्रित होता है, प्रायः इसमें आत्मालोचन का अभाव होता है। संतुष्ट प्रतिष्ठित व्यक्ति सुखी-सम्पन्न जीवन जीकर आत्मसंतुष्टि की रौ में बहकर अपनी उपलब्धियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है। इससे अलग आत्मकथन समाज केन्द्रित होता है। आत्मकथन लेखक व्यक्तिगत चिंतन से सामाजिक चिंतन की ओर अग्रसर होता है। वह उत्पीड़न के अंतहीन संसार की समाजशास्त्रीय मीमांसा और प्रभुवर्ग की सांस्कृतिक वर्चस्व की असलियत को बेनकाब करता है।

दलित आत्मकथनों ने 'स्व' की यातना का निजी द्वीप प्रस्तुत नहीं किया जैसा कि सवर्णवादी समझ रखने वाले पारंपरिक आलोचकों की सपाट मान्यता है। इन आत्मकथनों ने स्व के वृत्त में भारतीय समाज के ताने-बाने को एक नये दृष्टिकोण से देखा जिसकी केन्द्रीय चेतना थी समानता की माँग। दलित आलोचक ओमप्रकाश वाल्मीकि की टिप्पणी ध्यान देने लायक है। 'दलित आत्मकथनों के सन्दर्भ में एक तथ्य सर्वमान्य हो चुका है कि आत्मकथाकार कथा तो अपनी कहता है, लेकिन वह उन सब की कथा भी कह रहा होता है जिसके बीच वह रहता है, जिनके संग साथ उसने शोषण प्रताड़ना भोगी है, जो इससे मुक्ति चाहते हैं। इसलिए दलित आत्मकथा किसी एक व्यक्ति विशेष के दग्ध अनुभवों का विवरण मात्र नहीं होते हैं बल्कि समूचे समाज का ऐतिहासिक तथ्य बन जाता है। इससे सामाजिक समानता, स्वतंत्रता की तर्कपूर्ण माँग उसे अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों ही मोर्चों पर प्रामाणिकता की ताकत देती है। दलित आत्मकथनों में अनुभूति की प्रामाणिकता ही नहीं है बल्कि अभिव्यक्ति की प्रामाणिकता भी मौजूद है। व्यक्ति के माध्यम से अपने समुदाय और समाज की व्यथा का वर्णन करने के लिए आत्मकथन लिखा जाता है, जिस में दलित लेखक अपनी सामाजिक अस्मिता की तलाश सामाजिक अन्याय और असमानता के प्रति विद्रोह और क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तन आदि बिन्दुओं पर केन्द्रित करता है। इस लंबी प्रक्रिया में व्यक्ति की विशिष्टताओं का पूर्णतः लोप नहीं होता है, बल्कि वह अपने व्यक्तित्व के साथ-साथ अपने समुदाय और समाज का जीवंत चित्र उपस्थित करता है। आत्मकथन की इन विशिष्टताओं की मौजूदगी आप 'अपने-अपने पिंजरे' में प्रभावी ढंग से देखते सकते हैं।

19-4 मोहनदास नैमिशराय का जीवनवृत्त एवं नैतित्व

मोहनदास नैमिशराय का जन्म पश्चिमी उत्तर प्रदेश के मेरठ शहर में 5 सितंबर, 1949 को हुआ। जन्म के कुछ महीनों के बाद ही माँ का देहावसान हो गया। माँ के निधन के बाद ताऊ और ताई ने उन्हें गोद ले लिया। पिता सेना की नौकरी करते थे, ताऊ जूता-चप्पल बनाने का काम करते थे। पढ़ाई छः वर्ष की उम्र में शुरू हुई। उन्होंने 1971 में बी.ए. की परीक्षा पास की। फिर एम.ए. और बी.एड. की उपाधि हासिल की। हिन्दी अंग्रेजी और मराठी भाषा के वे जानकार हैं। मेरठ से प्रकाशित होने वाले अखबारों विशेषकर 'भीम सैनिक' में उन्होंने दलित जीवन से जुड़े अनेक समाचारों का लेखन किया।

कुछ वर्षों तक मित्रों के सहयोग से उन्होंने 'समता शक्ति' अखबार निकाला था, लेकिन आर्थिक परेशानियों के कारण वह बंद हो गया। वे आंबेडकर और मार्क्स के विचारों से प्रभावित थे। दलित जीवन के विविध पक्षों को उन्होंने अपने लेखन का आधार बनाया। सृजन संसार में शामिल कृतियाँ हैं - अदालतनामा (नाटक 1989), सफदर एक बयान (कविता संग्रह 1989), क्या मुझे खरीदोगे (उपन्यास 1990), भारतरत्न डॉ. भीमराव आंबेडकर बाबासाहेब लिखित पुस्तक फिलॉसफी ऑफ हिन्दुइज्म का अनुवाद (1991), बाबासाहेब और उनके संस्मरण (1993), समता की ओर (1993) 'अपने-अपने पिंजरे' (आत्मकथन, पहला भाग 1995, दूसरा भाग 1996)। डॉ. आंबेडकर प्रतिष्ठान, कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित डॉ. आंबेडकर वाङ्मय के सम्पादक रहे हैं। इस तरह मोहनदास नैमिशराय की जीवनयात्रा और रचनायात्रा असहमति, प्रतिरोध और समरस समाज स्थापना के सरोकारों से प्रेरित संचालित रही।

19-5 अपने-अपने पिंजरे की कहानी : मोहनदास नैमिशराय की ज़बानी

"अपने-अपने पिंजरे" में नायक मोहनदास नैमिशराय ने भोगे हुए यथार्थ के बीच टूटते, बिखरते और उभरते संकल्पों का मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। प्रायः दलित उत्पीड़न के सन्दर्भ में भारतीय गाँव की सामाजिक संरचना को सर्वाधिक भयावह समझा जाता है और शहर की संस्कृति को इससे एक हद तक दूर। लेकिन 'अपने-अपने पिंजरे' का पाठक जिन तल्ख हकीकतों से रू-ब-रू होता है, उससे यह बात साफ तौर पर स्पष्ट हो जाती है कि सिर्फ गाँव ही नहीं, शहर भी दलितों के यातनागृह है। आत्मकथन लेखक ने उत्पीड़न के विविध सन्दर्भों को अपनी कृति में प्रस्तुत किया है।

'अपने-अपने पिंजरे' का आरम्भ लेखक ने पत्रकारिता शैली में अपने शहर मेरठ के विस्तृत विवरण से किया है। इससे 1857 के पहले स्वाधीनता संग्राम, पंडित नेहरू के इंपाला गाड़ी में कई बार शहर में आने, शाहनवाज खाँ के इसी शहर के होने, डॉ. आंबेडकर का शहर का दौरा करने इत्यादि घटनाओं का जिक्र है। शहर के विस्तृत विवरण के बाद आत्मकथन में लेखक के निजी जीवन और उस परिवेश का चित्रण है, जिनका सामना लेखक ने किया। इस क्रम में लेखक ने इतिहास और संस्कृति के उन पहलुओं को बेबाकी से विश्लेषित किया है, जहाँ ब्राह्मणवादी सोच और तथाकथित पवित्रता की आड़ में बहुजन को हाशिये पर जीवन गुजारने के लिए अभिशप्त किया जाता।

19.5.1 लहलुहान बचपन और स्नेह की आत्मीयता

जन्म से कुछ महीनों बाद ही मोहनदास नैमिशराय का बचपन माँ की छाया से वंचित हो गया। उस समय वे जमीन पर घिसटते हुए चलते थे। माँ का जाना और पिता का हृदयहीन होना, मोहनदास के लिए अभिशप्त जीवन की हकीकत हो गया। बकौल लेखक 'मेरे जन्म के चंद बरस माँ नहीं रही थी वह राख और मिट्टी में बदल गयी थी। उसका कतरा-कतरा जल गया था। आग में मिलकर वह मुझे परिवार से सारी दुनिया से अलग हो गयी थी। माँ की मृत्यु का अहसास मुझे उस समय कहाँ भला? होता भी कैसे? जमीन पर घिसटने वाला शिशु था तब मैं। पीछे रह गया था, टूँठ-सा बाप बिना टहनी-पत्तों का ऐसा दरख्त जिसके सीने में कोपले नहीं खिलतीं। यूँ मेरे भाई भी थे और बहिन भी, पर प्यार से अधिक कहीं उनमें सहानुभूति थी। बस्ती में कुछ औरते मुझे 'बिना माँ का बच्चा' कहकर पुकारती-दुलारती थी।

इस सूने बचपन में स्नेह की आत्मीयता के साथ ताई (बड़ी माँ) और ताऊ का आविर्भाव हुआ। इस छलकती आत्मीयता को लेखक याद करते हुए कहते हैं, 'ताई की छातियों में

दूध था, और सीने के भीतर ममता का छलकता हिलोरे मारता समंदर। ताई ने मुझे गोद ले लिया था। जन्म से कुछ माह बाद माँ की मृत्यु मेरे लिए दुखद घटना थी, पर ताई माँ का गोद लेना सुखद भी। मेरे पिता बने मेरे ताऊ, घर में लोग उन्हें 'बा' कहकर पुकारते थे। बा और ताई यानी माँ यही मेरा संसार बने। उन्होंने मुझे हँसी दी। खिलखिलाहट दी।

19.5.2 आस्था की भव्यता में नास्तिकता के मंजर

वर्णवाद की भव्य संरचना में दलित जीवन का अभिशाप सवालियों से उलझता-जूझता नास्तिकता के मंजर से रू-ब-रू हुआ। मोहनदास के ताऊ के दो घर थे - एक कच्चा जिसे कोठरी कहा जाता, दूसरा पक्का मकान जिसे लोग हवेली कहते थे। मोहनदास का ज्यादातर समय हवेली में बीतता था, शाम होने के बाद वे कोठरी में लौटते। हवेली में बा (ताऊ) चप्पल बनाते थे, इसका एक और नाम दुकान भी था। कोठरी में मोहनदास ताऊ के साथ सोते थे। मौहल्ला चमारों का था, जिन्हें कई पीढ़ियों से गुलाम समझा जाता था। मुसलमान मोहनदास के पड़ोसी थे, वे मौहल्ले के पुरुषों को चमट्टे तथा स्त्रियों को चमट्टी कहते थे। ईद के दिनों में मुसलमानों का घर कत्लगाह बन जाता था। मुसलमान जानवरों के जिन अंगों को नहीं खाते, उसे चमरटोली के बाशिन्दों में बाँट देते। बस्ती के पास ही पंचमुखी नामक सवर्णों का मंदिर था। एक दिन मंदिर के पुजारी द्वारा प्रसाद बाँटते समय मोहनदास का हाथ पुजारी से छू गया। पुजारी झल्लाया, तू चमार का है न। सब कुछ भ्रष्ट कर दिया। 'कितनी बार कहा तुम लोगों को कि प्रसाद दूर से लिया करो'। इस झल्लाहट ने मोहनदास के सामने विचार के कई वितानों को खोल दिया। बकौल मोहनदास, 'हमारा तो कोई मंदिर न था। मंदिर सवर्णों के थे। वे ही पुजारी थे वे ही चौकीदार।' आवेश में आकर मोहनदास ने पुजारी के सामने थूका। इस घटना ने मोहनदास का कायान्तरण कर दिया। मोहनदास आगे लिखते हैं, "थू तुम्हारा मंदिर और तुम्हारा प्रसाद,.....।" कहकर मैं चला आया था, उस दिन के बाद मैं मंदिर नहीं गया। मंदिर मुझसे मीलों दूर हो गया था जैसे। मंदिर के भीतर रखे पत्थर के देवताओं के प्रति नफरत सी हो गई थी। शायद यहीं से मेरे भीतर कोई नास्तिक पुरुष आकर बैठ गया था। "मोहनदास के जीवन में आये विभिन्न अनुभवों ने नास्तिकता को और भी दृढ़ किया।"

19.5.3 Kku ds l d kj ea?k.kk dk l ekt'kkL=

छः वर्ष की उम्र में बस्ती के स्कूल में मोहनदास का दाखिला कराया गया। चमारों की बस्ती के स्कूल में विद्यार्थी उस समुदाय से थे, जिनसे सवर्ण अध्यापक उत्कृष्ट घृणा करते थे। विद्यार्थी को अक्सर जातिवाचक संज्ञा या उन नामों से पुकारा जाता था जिनसे उनकी शारीरिक मानसिक अक्षमता प्रकट होती थी। घृणा के समाजशास्त्र के अनेक पहलू थे, जिसे मोहनदास की निगाहों ने देखा। सवर्ण अध्यापकों पर आत्मकथन लेखक की टिप्पणी ध्यान देने योग्य है, "पर ये नाम बिगाड़कर संबोधन करने वाले भारतीय संस्कृति के संवाहक होते और आर्य सभ्यता के पोषक। वे कहते कुछ और करते कुछ। सुबह बच्चों को पढ़ाते-हमें अहिंसा में विश्वास रखना चाहिए, किसी को बुरा या कड़वा नहीं बोलना चाहिए और थोड़ी देर बाद ही लात, घूसे, थप्पड़ तथा डंडों से बच्चों की धुनाई भी कर डालते। उन्हें न जाने क्या-क्या बोलते। दोपहर होने से पहले बच्चों को ही समता, बराबरी का पाठ पढ़ाते और दोपहर बाद उन्हें प्यास लगती तो चुपके से अपना ग्लास निकाल कर नल पर जाकर पानी पी आते।" घर के बाद स्कूल सामाजीकरण का सबसे अहम केंद्र होता है। स्कूल में बहिकरण की संस्कृति और सदाचार का कपट कैसे सक्रिय होता है, इसके विभिन्न अनुभवों को आत्मकथन लेखक ने बेबाकी से लिखा है।

19.5.4 अस्पृश्यता की वैधता का दंश

मोहनदास के जीवन में उन प्रसंगों की भरमार है, जिनमें सवर्ण समाज की दलितों के प्रति की गयी घृणा की अभिव्यक्ति दर्प के रूप में प्रकट हुई। अस्पृश्यता को वैधता प्रदान करने की यह विचारधारा सदियों से सक्रिय है। जोतिबा फुले, आंबेडकर सरीके महानायकों ने इस दंश से प्रखर संघर्ष किया। पर ब्राह्मणवादी संस्कृति ने शुद्धता, संस्कृति की आड़ में यातना के इन संदर्भों को जारी रखा। मोहनदास ऐसे एक अनुभव का मार्मिक वर्णन करते हैं। घटना कुछ इस तरह है अपने बड़े भाई के साथ बहन के गाँव निठारी जाने के रास्ते में मोहनदास को तेज प्यास लगी। पानी की आस में जब वे एक सवर्ण घर के सामने रुके, तब पूछा गया कि वे कहाँ जा रहे हैं? इस वार्तालाप के क्रम में जब यह पता चला कि वे चमार के घर जा रहे हैं, तब उन्हें न सिर्फ पानी से महरूम किया गया, बल्कि तिरस्कृत और अपमानित भी किया गया। गोया पानी माँग कर मोहनदास ने गुनाह किया हो। घटना का यह दुःखांत रोंगटे खड़ा कर देने वाला है कि उसके बाद लेखक को उस जोहड़ का गंदा और बदबूदार पानी पीना पड़ा, जिसे जानवर भी मजबूरी में पीते हैं।

मोहनदास को होमगार्ड शिविर में यातना के ऐसे प्रसंग का सामना करना पड़ा। सब्जी छूने पर रसोइये ने हिकायत से कहा कि स्पर्श से 'सब भ्रस्ट हो गया।' थानेदार की भरती के दौरान भी अस्पृश्यता सार्वजनिक रूप से प्रकट हुई। लेखक ने लिखा है, एस.एच.ओ. ने ऊँची आवाज में कहा था "जो सुडलकास्ट लड़के हैं वे एक तरफ हो जाएँ हमें फाइनल लिस्ट बनानी है।" कैसे चाबुक से लगे थे उसके शब्द हमारे शरीर और मन पर। उसी तरह आठवीं कक्षा में पढ़ने वाले मोहनदास को जब बा (ताऊ) की अनुपस्थिति में चप्पल, जूते बनाने की पुश्तैनी दुकान में बैठना पड़ता तो ऐसे प्रसंगों से अक्सर रू-ब-रू होना पड़ता।

19-6 शांति व्यवस्था और अर्थतंत्र की योजना

मोहनदास को दलित उत्पीड़न से जुड़े अर्थतंत्र की व्यवस्था का अनेक बार सामना करना पड़ा। जूते की दुकान में खाली समय में पढ़ाई करते मोहनदास को एक सवर्ण ने घृणा के साथ कहा, "अरे पढ़लिख कर क्या तू लाट गवन्नर बन जागा। गांठेगा तो येई लीतरें।" जाति व्यवस्था सवर्ण समृद्धि और अवर्ण दरिद्रता के सिद्धांत को जारी रखने के लिए जिस समाजशास्त्र का निर्माण करती है, उसमें पहला प्रयास यह होता है कि अवर्णों को हर सूरत में शिक्षातंत्र से दूर रखा जाय। मोहनदास जब स्कूल में किसी कारणवश बिना यूनिफॉर्म के पहुँचते, तब ब्राह्मण अध्यापक की टिप्पणी होती, "अबे तुझसे पढ़ने के लिए कौन कहता है। बस जूते चप्पल बनाओ और आराम से रहो। चले आते हैं ससुरे न जाने कहाँ-कहाँ से।" उसी तरह लड़कियों को स्कूल से प्रायः दूर ही रखा जाता है, उन्हें घर के या जातिगत पेशे में शामिल होकर पढ़ने की बजाय श्रम करना पड़ता।

सवर्णों के यहाँ सम्पन्नता की सारी उपलब्धि पहुँचती जबकि चमार बस्ती (अवर्ण बस्ती) अक्सर फाकेमस्ती का सामना करती। भरपेट भोजन तो उत्सवों में ही नसीब होता। ऐसे मौकों का बेसब्री से इंतजार होता। दिन गिने जाते, पक्षों के जल्दी बीतने की प्रतीक्षा की जाती। आत्मकथन लेखक मोहनदास नैमिशराय का यह कथन बेहद मार्मिक है "शादी ब्याह के दिनों में हमारे चेहरे खुशी से चमकने लगते थे। यह सोचकर कि पेटभर खाने को तो मिलेगा। हम उसी दिन की कई-कई हफ्तों से प्रतीक्षा किया करते थे। मैं माँ से बार-बार पूछता - फलाने के घर पर ब्याह कब है, ढिमाके के यहाँ कब.....? ताई माँ जवाब देने से पहले अंगुलियों पर हिसाब लगाती। पहले सप्ताह

गिनती, फिर दिन। किस दिन पूर्णमासी होगी, किस दिन आधा चाँद निकलेगा, किस दिन अँधेरी रात होगी.....आदि-आदि का ताई माँ को पता होता था।" भरपेट भोजन के उत्सवों को सवर्ण निगाह हिकारत से देखती और मजाक उड़ाने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी जाती, "अबे देख चमारों के चावल, चमारों की दाल, चमारों के लड्डू चमारों की पूरी, चमारों की सब्जी.....।" जाति व्यवस्था के अनुरूप होने वाले अर्थतंत्र की योजना को आत्मकथन ने बेहद करीब से देखा। जाति व्यवस्था अवर्णों के प्रति घृणा, तिरस्कार अवहेलना, छुआछूत जैसे क्रूर व्यवहार को धर्म शास्त्रों में मिली मान्यता के अनुसार तार्किक माना जाता है। अमानवीयता की सीमा लांघे जाने पर भी सवर्ण वर्ग इस पर प्रतिक्रियाहीन बने रहकर परंपरा के रूप में संस्कृति के संवाहक का जरिया बन जाता है। बहुजन के हित का निषेध यहाँ धर्म, संस्कृति और परंपरा के रूप लेकर सवर्ण-अवर्ण के बीच में धन, संसाधनों के बँटवारे में निहायत क्रूर भूमिका का निर्वाह करती हुई गर्व करती है।

19-7 जीवन के पतझड़ में प्रेम का बंसत

मोहनदास के जीवन में कई लड़कियाँ आयीं। किशोर मोहनदास के जीवन में बिरजों, सुभद्रा, मंगों की दस्तक ने धीरे-धीरे आकर्षण के अर्थ का विस्तार किया। रसवंती उस समय मोहनदास के जीवन में आयी जब किशोर मोहनदास ने प्रेम के निहितार्थ को समझना शुरू किया। पर यह प्रेम परवान चढ़ पाता इसके पहले रसवंती की शादी हो गयी। दरिद्रता, अभाव और रोमानी सपने के प्रभाव में जब मोहनदास बंबई भागे उसमें एक प्रेरणा रसवंती का विवाह भी था। बकौल मोहनदास, "कड़ी नम्बर तीन थी रसवंती। मेरठ की पहली और अंतिम प्रेमिका। मेरे मन के भीतर प्रेम का बीज पड़ चुका था। बाद में वही पौधा बन कर उगा। यहाँ तक तो ठीक था, जब वहीं पेड़ का रूप धारण करने लगा तो परेशानी हुई। मुझे भी, उसे भी, साथ में बस्ती वालों को भी। प्रेम के इसी आरंभिक दिनों में गुजर रहा था। मुझ उम्मीद थी कि उस पेड़ पर प्यार के मीठे फल लगेंगे। पर ऐसा हुआ नहीं। कारण उसकी शादी निश्चित भी हो गयी।

बंबई में ईसाई सूजी का सामीप्य प्रेम के नये अहसासों से सम्पन्न था। सूजी के प्रेम की अभिव्यक्ति ने मोहनदास को रोमांचित कर दिया। पर मेरठ के घर से संदेश मिला, जल्दी वापस आ जाओ। यह प्रेम भी समयचक्र से विरह में तब्दील हुआ। अलग होते समय सूजी ने कहा, "मेरी मुट्ठी में अपनी साँसे भर दो। जब तुम लौट कर नहीं आओगे, तुम्हारी साँसों को गँध में संभाल कर रखूँगी। मैं तुम्हारा इंतजार करूँगी।" पर यह वापसी कभी नहीं हुई।

जीवन में विवाह का प्रसंग जिस लड़की से जुड़ा वह शकुन थी। पर स्त्री की यह निकटता विवाह संस्था की पितृसत्तात्मक सोच से ही प्रेरित थी। मोहनदास को विवाह में प्रेम का अभाव खटकता रहा, उन्हें लगता पत्नी प्रेम की सोच नहीं अलबत्ता अनुशासन के अंकुश में अधिक दिलचस्पी रखती थी। प्रसंगवश लेखक का कथन उद्धृत किया जा सकता है, "वह बेहद नीरस औरत थी, न कोयल की तरह कूकती थी, और न चिड़ियों की तरह चहकती थी। तोता-मैना के किस्से कहानियाँ सुनाने वाली दादी अम्मा बनकर वह हमारे घर आयी। कभी-कभी लगता था वह मेरी पत्नी नहीं थी माँ थी। माँ बनकर मुझ पर अंकुश रखना चाहती थी।" पति-पत्नी के रिश्ते में अनेक बार निकटता और दूरी के प्रसंग आये जिनका आत्मकथन लेखक ने आत्मीय वर्णन किया है।

इस प्रकार मोहनदास के जीवन में प्रेम और स्त्री चरित्र के अनेक रूपों का सन्निवेश हुआ। लेखक ने चित्रण में आत्मीयता और ईमानदारी दोनों पक्षों का संतुलन साधा है।

19-8 आर्थिक स्रोतों की तलाश के विविध प्रयास

यातना और दरिद्रता से भरे बचपन के बाद किशोर मोहनदास ने आर्थिक स्रोतों की तलाश करनी शुरू की। इस क्रम में कई सपने बने और बिखरे। युवा मोहनदास ने 1971 में बी.ए. किया और एक साल यानी 1972 तक कहीं किसी ठोस आर्थिक आधार की प्राप्ति नहीं हुई। दिल्ली प्रशासन में क्लर्क के पद के लिए वे लिखित परीक्षा में शामिल हुए। लम्बे समय तक नियुक्ति नहीं हुई। इस बीच वैचारिक भूख पहले से कहीं ज्यादा तीव्र होती गई। मुफलिसी के दौर में 'भीम सैनिक' अखबार बंद हो गया। आर्थिक अनिश्चितता के इस दौर में विवाह के ऐसे प्रस्ताव भी आये, जिनमें आर्थिक प्रलोभनों की बिसात बिछायी गयी। पर मोहनदास ने ऐसे समीकरणों में दिलचस्पी नहीं ली। कुछ ही अरसे बाद दिल्ली प्रशासन वाली क्लर्क की नौकरी में हो रहे विलम्ब के संदर्भ में मोहनदास ने ब्लिट्ज (बंबई) में लिखा। इसका तत्काल असर हुआ और एम्प्लायमेन्ट एक्सचेंज में सप्ताह भर बाद ही नौकरी मिल गयी।

घर के लोग चाहते थे कि मोहनदास थानेदार नहीं तो डिप्टीकलेक्टर बनें। इस चाहत में मेरठ पुलिस लाइन में थानेदारी की शारीरिक परीक्षा देने मोहनदास पहुँचे। शारीरिक मानकों में खरा न उतरने के चलते उनका चयन नहीं हुआ। सार्वजनिक रूप से चयनकर्ता द्वारा अवर्ण प्रत्याशियों का मजाक उड़ाना मोहनदास सरीखे प्रत्याशियों को अंदर तक हिला गया। पी.सी.एस. परीक्षा में भी असफलता हाथ लगी।

क्लर्क की नौकरी करते हुए मोहनदास ने बी.एड. की परीक्षा दी और उनका चयन भी हो गया। ट्रेनिंग के बाद वे अध्यापन के क्षेत्र में आ गये। सवर्ण मानिसकता के अनेक अप्रिय प्रसंगों का सामना किया। अभी भी उनकी आर्थिक हैसियत उस स्तर तक नहीं पहुँच पायी कि परिवार की गुजर बसर ढंग से हो पाये। जब दिल्ली में ससुराल से पत्नी को लाने गये तो पत्नी ने पूछा कितनी तनख्वाह मिलती है तुम्हें इस जन्म में? दो सौ रुपए सुनने के बाद पत्नी ने तुनक कर कहा, 'इस दो सौ रुपए में खुद अपना खर्चा करोगे या मेरा और बच्चे का भी!'

मोहनदास ने कुछ वर्षों बाद कॅंटोनमेंट बोर्ड मेरठ में क्लर्क कम टोकेन इंस्पेक्टर की नौकरी प्राप्त की। चार माह के बाद वे पुनः अध्यापन में आ गये। इण्टर कॉलेज मेरठ में प्रवक्ता के आरक्षित पद हेतु उन्हें नियुक्त किया गया। यहाँ भी उन्हें हिकारत और व्यंग्यों से जूझना पड़ा। बकौल मोहनदास, "मैं पहला दलित था, जो मनु के विधान के खिलाफ शिक्षा देने यानी पढ़ाने के व्यवसाय से जुड़ा था। स्कूल में मेरे आने की देर नहीं हुई थी कि सवर्ण अध्यापकों के पेट का पानी हिलने डुलने लगता। वे मेरे पीछे ही नहीं बल्कि सामने भी आरक्षण के खिलाफ नमक मिर्च लगाकर चटखारे लिया करते थे। मैं आरक्षण के समर्थन में अपनी दलील देना चाहता, कुछ कहने का प्रयास भी करता, पर वे सुनते ही नहीं। वे आरक्षित पदों पर कार्यरत कर्मचारियों का मजाक उड़ाते। उनके भीतर तरह-तरह की कमियाँ निकालते।"

कुछ अर्से बाद वे राजनीतिक जुड़ाव के कारण बामसेफ से जुड़े और सक्रियता इस कदर बढ़ी कि आर्थिक मोर्चे पर वे खस्ताहाल होते गये। मोहनदास उन दिनों को याद करते हुए कहते हैं, "बामसेफ से मेरा जुड़ना संस्था/समाज के साथ दलित घर/परिवार के साथ पत्नी तथा बच्चों के लिए दुःखांत ही साबित हुआ था। मेरे स्वयं का परिवार छिन्न-भिन्न होने के कगार पर था। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि मैं सामाजिक लड़ाई लड़ते-लड़ते आर्थिक मोर्चे के हासिये पर आ गया था।" आर्थिक तंगी का आलम यह हो गया कि पत्नी नौकरी करने लगी। मोहनदास बहुजन संगठक साप्ताहिक के लिए सम्पादकीय और अन्य

लेखन कार्य करने लगे। यह आर्थिक जरूरतों की निगाह से ऊँट के मुँह में जीरा था। तंगी के इसी आलम में बेटे मनीष का सही इलाज नहीं हो पाया और एक दिन निधन हो गया। संघर्ष भरे जीवन में आर्थिक मोर्चे पर चुनौतियों का सामना जैसे लेखक की नियति बन गयी पर सर्जना के मोर्चे पर समृद्धि का दौर भी लगातार चलता रहा।

19-9 जीवन की लय से निकला राजनैतिक विवेक

बीसवीं सदी का उत्तरार्ध दलित चेतना और सृजन के सुव्यवस्थित आकार ग्रहण करने स्वीकृति तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करने की दृष्टि से उल्लेखनीय है। आत्मकथन 'अपने-अपने पिंजरे' के लेखक मोहनदास नैमिशराय के राजनैतिक विवेक के निर्माण में जीवनगत अनुभवों एवं परिवेश की निर्णायक भूमिका रही।

बाल मन ने दलित उत्पीड़न के अनेक प्रसंगों और वर्णश्रेष्ठता के दंभ को जीवन विकास के क्रम में महसूस किया। समझ बढ़ने के साथ ही मोहनदास ने विरूप वर्तमान के जड़ों की तलाश शुरू की। इतिहास में रुचि, इसी तलाश की फलश्रुति थी। मोहनदास लिखते हैं, "मैंने ग्यारहवीं कक्षा में इतिहास लिया था। शायद हमलावरों की शक्ल और सूतों को पहचानने से महत्वपूर्ण था उनके बजूद के कारणों की तलाश करना। उनकी सभ्यता/संस्कृति की टोह लेना, उनके वर्चस्व की थाह लेना। उनके वैभवशाली अतीत को परखना। जन्म से लेकर जवान होने तक यही सुना था। वे शासक थे, हम शासित, पर क्यों ऐसा था?"

सभ्यता संस्कृति की पड़ताल के क्रम में वे साम्यवादी दर्शन से रु-ब-रु हुए। यह वही दौर था, जब पश्चिम बंगाल में चारू मजूमदार सरीखे व्यक्तित्व का आविर्भाव हुआ था। दलित उत्पीड़न, विशेषकर महिला उत्पीड़न की घटनाओं पर मोहनदास की पैनी नजर रहती, "बाद के दिनों में मैंने एक लाल डायरी बनायी थी। जिसमें मैं दलित उत्पीड़न और विशेषकर महिला उत्पीड़न खबरें लाल स्याही के पेन से लिखा करता था। वे खबर मेरे लिए आग की तरह होती थीं। जिस आग को मैं अपनी डायरी में संजोकर रखता था, वह डायरी कहाँ थी, सचमुच में भट्टी थी। मैं ही नहीं उसके आस-पास का परिवेश भी दहकता होता था।..... मेरे भीतर ब्राह्मणवाद का ध्वंस के भाव उमड़ते थे। जैसे कभी भी वे तेजाबी वर्षा कर दें। क्रांति विस्फोट, उत्पीड़न इन शब्दों के यथार्थवादी दर्शन से मेरी जुड़ने की लालच होती थी।" "कहना न होगा मोहनदास कोरे प्रतिक्रियावादी नहीं रहे, अब उनके चिंतन को एक वैचारिक आधार व्यवस्थित कर रहा था। वह दर्शन जो सुविधाभोगी आनंदवाद को पुट करते हुए यथास्थितिवाद को चरम उपलब्धि मानता था, के प्रति मोहनदास में तीव्र वितृणा जगी, "कौन सा ऐसा मंदिर बचा होगा, जिसमें महिला की साड़ी न उतारी गयी होगी या उसके साथ बलात्कार न हुआ होगा। मुझे बलात्कार की खबरें अधिक बेचैन करती थीं। मैं उन भड़वे सरीके देवताओं पर उबलता, आक्रोशमय होता और अपनी लाल डायरी में दुर्घटनायें दर्ज कर लेता। ऐसी दुर्घटनाओं का शिकार भी दलित महिलाएँ ही ज्यादा होती थीं, घासवालियों से कूड़ा साफ करनेवालियों तक। यूँ अखबारों में सामूहिक हत्याकांड की खबरे भी छपतीं। दलितों को जलती भट्टियों में जिन्दा ही झोंक दिया जाता। तब किसी मंदिर में आग नहीं लगती। न आकाश टूट गिरता और न धरती फटती। सब कुछ वैसा ही चाहता?" असहमति और विद्रोह की इस चेतना ने उनके विवेक को राजनैतिक लेखन से जोड़ा मेरठ के वे अखबार जो दलित चेतना से सम्पन्न थे, उनमें मोहनदास ने लिखना शुरू किया। बंबई के ब्लिट्ज के लिए भी लिखा। फिर 'समताशक्ति अखबार निकाला', आर्थिक संसाधनों के अभाव में अखबार कुछ अंकों के बाद बन्द हो गया, पर राजनैतिक चेतना की अलख जगी रही। इस क्रम में वे नरेन्द्र घायल, रामविलास पासवान, जैसे युवा दलित नेताओं से भी मिले। फुले-आंबेडकर के चिंतन से रच-पगा

मोहनदास का व्यक्तित्व सृजनात्मकता के उन आयामों के सतत् अन्वेषण में लगा रहा जिनकी नींव पर समतामूलक समाज की अवधारणा रूपाकार ग्रहण करती है। सैद्धांतिक निर्मितियों के साथ ही व्यावहारिक धरातल पर भी राजनैतिक दृष्टि सक्रिय हुई। मेरठ के सिनेमा हॉल निगार में जी.पी. सिप्पी की 'अहसास' फिल्म के खिलाफ आंदोलन को इसी क्रम में देखा जा सकता है।

मेरठ के बामसेफ ऑफिस में कांशीराम और मायावती से मोहनदास की मुलाकात हुई। बामसेफ से जुड़ाव के बाद वे लेक्चररशिप छोड़ पूर्णकालिक राजनैतिक कार्यकर्ता बन गये। इस क्रम में उन्होंने अवसरवादी राजनैतिक कार्यकर्ताओं को करीब से देखा-परखा। व्यक्तिगत और पारिवारिक हानियों का खौफनाक मंजर यह रहा कि बेटा मनीष उचित इलाज के अभाव में मर गया और आर्थिक रूप से परिवार की हालत खस्ताहाल हो गयी। बावजूद इसके सपने पराजित नहीं हुए, बकौल मोहनदास, अंततः अपने आँसू पोंछकर मैं पुनः उसी संघर्षपथ पर अग्रसर होने लगता था। दलित आंदोलन की कोई जीवंत तस्वीर हम सभी ने मिल-जुलकर बनानी थी।"

19-10 | kjkd k

इस अध्याय में आपने मोहनदास नैमिशराय के जीवन के उन यंत्रणादायक पहलुओं का विस्तृत अध्ययन किया। जिनसे दलित चेतना की प्रखर चिंतनधारा निर्मित हुई। ब्राह्मणवादी व्यवस्था के नारकीय यातना गृह से गुजरकर मोहनदास का व्यक्तित्व बिखरा नहीं, बल्कि ऊर्जावान तरीके से सक्रिय हुआ। दलित लेखक, चिंतक और विचारक मोहनदास का यह आत्मकथन परंपरागत आत्मकथनों से अलग ईमानदार तेवर, संघर्ष और पठनीयता के नये अहसासों से पाठकों को समृद्ध करता है।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 20 अपने-अपने पिंजरे-2

bdkbz dh : i js[kk

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 अपने-अपने पिंजरे की वैचारिक पृ-ठभूमि

20.2.1 यातना और अनुभव से उपजा चिंतन

20.2.2 असहमति और विद्रोह का समाज दर्शन

20.2.3 यथार्थ का बेबाक विश्लेषण

20.2.4 दृ-टि की व्यापकता का वितान

20.3 उत्पीड़न की विरासत बरास्ते 'अपने-अपने पिंजरे'

20.3.1 वर्णव्यवस्था और पितृसत्तात्मकता

20.3.2 व्यक्ति अस्मिता बनाम जाति व्यवस्था

20.3.3 वर्णवादी समाज और बहिष्कृत बस्तियाँ

20.4 पूँजीवाद दु-चक्र में जातिवादी संरचना का इस्तेमाल

20.5 वर्णवादी पदानुक्रम, श्रे-ठताबोध और दलित समाज

20.6 अपने-अपने पिंजरे : संरचनागत वैशि-ट्य

20.7 सारांश

20.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

20.9 प्रश्न/अभ्यास

20.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप 'अपने-अपने पिंजरे' आत्मकथन के कुछ और पहलुओं का अध्ययन करेंगे। अभिव्यक्ति के पारंपरिक रूपों और सरोकारों से असहमत दलित साहित्य ने पुनर्जन्म, प्रारब्ध और वर्ण व्यवस्था पर टिकी भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवस्था को प्रश्नबद्ध किया। दलित हस्तक्षेप की इस उत्कृष्ट आकांक्षा और सत्यान्वे-नी दृ-टि को पारंपरिक कलावादी खेमे से अनेक चुनौतियाँ मिलीं। पर बहुजन के श्रम से अनुप्राणित इस सौन्दर्यदृ-टि ने साहित्य के पारंपरिक मानकों को ही बदल डाला। आज भारतीय साहित्य की कोई भी अवधारणा दलित सृजन परिदृश्य के बिना अधूरी ही है। भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति से रचे-पगे दलित साहित्य में न सिर्फ सदियों पुराने उत्पीड़न के समाजशास्त्र के प्रति विद्रोह का भाव है, बल्कि उस सौन्दर्यशास्त्र की प्रति-ठा की आकांक्षा भी है जिसमें समतामूलक समाज की अवधारणा निहित हो। शो-ण के खिलाफ संघ-रत दलित साहित्य जिस मुकम्मल भारतीय समाज की बात करता है, उसकी मूल चेतना है, पूर्ण समानता। रमणिका गुप्ता की एक लम्बी टिप्पणी को यहाँ उद्धृत करना मौजू होगा, "दलित साहित्य उस दबी हुई अस्मिता को प्राणवान मानव अस्मिता का हिस्सा बनाने की लड़ाई लड़ रहा होता है, जब वह वर्णविहीन, वर्गविहीन, जातिविहीन, समाज बनाकर एक मानवीय समाज बनाने की घो-णा करता है। जनवादी, प्रगतिशील और जनतांत्रिक साहित्य जो भारत के जन्मना जाति के संदर्भ में केवल वर्ग की ही बात करते-करते एकतरफा, कहें कि इकहरा हो गया था - दलित साहित्य ने सामाजिक समानता और राजनीतिक भागीदारी को भी

साहित्य का विनय बनाकर उसकी आर्थिक समानता की अधूरी मुहिम को पूर्णता दी। इन तीनों पर समानता प्राप्त किये बगैर मनु-य पूर्ण समानता प्राप्त नहीं कर सकता। दलित साहित्य इस पूर्ण समानता के लिए संघर्षरत है। दलित साहित्य में संघर्ष और अस्मिता की पहली अभिव्यक्ति आत्मकथनों के माध्यम से हुई। दलित आत्मकथनों में "अपने-अपने पिंजरे" के दोनों भाग कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। इकाई 19 में आप आत्मकथन के माध्यम से मोहनदास नैमिशराय के जीवन की उन घटनाओं से रू-ब-रू हुए जिनसे दलित संकल्प और चिंतन को व्यवस्थित आधार मिला। इस अध्याय में आप आत्मकथन की कुछ अन्य विशेषताओं यानी वैचारिकी का अध्ययन करेंगे। अध्याय के अध्ययन के बाद आप रू-ब-रू होंगे-

‘अपने-अपने पिंजरे’ आत्मकथन के संरचनागत वैशिष्ट्य से;

आत्मकथन की उस दार्शनिक पीठिका से जो जीवन व्यावहारिक अनुभवों से जुड़े विभिन्न प्रसंगों से पैदा होता है;

दलित उत्पीड़न की उस पृष्ठभूमि से जो ‘अपने-अपने पिंजरे’ के कथानक में अंतर्भूत है;

दलित अवसरवाद और दलित जातियों के बीच मौजूद अस्पृश्यता की वैचारिकी से; और

भारतीय जाति व्यवस्था के पूँजीवाद द्वारा इस्तेमाल के विभिन्न संदर्भों से।

आइए, इकाई का विस्तार से अध्ययन करें।

20.1 प्रस्तावना

दलित आत्म ने भारतीय सामाजिक संरचना में मौजूद दलितों के प्रति दया और कृपा के पारंपरिक प्रसंगों के स्थान पर न्यायपूर्ण व्यवस्था की माँग को धारदार अभिव्यक्ति द्वारा प्रकट किया। दलित लेखकों ने समता, स्वतंत्रता और न्याय की स्पष्ट माँग को दार्शनिक पृष्ठभूमि के रूप में चुना। सुपरिचित दलित, चिन्तक विमल थोरात की टिप्पणी ध्यान देने लायक है, "इन आत्मकथनों में समता, स्वतंत्रता और न्याय की स्पष्ट माँग है। इसमें मुक्ति आन्दोलन की ताप और ताकत है। ये वेदना के गर्भ से प्रसूत हैं और पुरानी सामाजिक संरचनाओं को अस्वीकार करती हैं। घुटन भरे सामाजिक परिवेश से निकले व्यक्ति की नयी दुनिया और समाज की तलाश, परिकल्पना और निर्माण की इच्छाशक्ति और उम्मीद की अभिव्यक्ति है। बेशक बहुत से लेखकों के अपने पूर्वग्रह भी इनमें मौजूद अभिव्यक्ति के जो स्वर निकल रहे हैं उन्हें सहानुभूति नहीं न्यायपूर्ण ध्यान की आवश्यकता है।" जाहिर सी बात है कि दलित आबादी की न्यायपूर्ण माँग को अब और उपेक्षित करना समाज के स्वस्थ विकास के लिए एक बड़ी बाधा है।

‘अपने-अपने पिंजरे’ आत्मकथन की कथावस्तु से परिचय के बाद आवश्यकता इस बात की है कि रचना के विन्यास में मौजूद संदेश, सैद्धान्तिक निष्कर्षों और कला चेतना का भी मूल्यांकन किया जाय। साथ ही रचना की पृष्ठभूमि और अभिव्यक्त समाज दर्शन की मीमांसा भी की जाय।

20.2 अपने-अपने पिंजरे की वैचारिक पृष्ठभूमि

‘अपने-अपने पिंजरे’ के लेखक मोहनदास नैमिशराय दलित जीवन की त्रासदी का बयान करते हुए भारतीय समाज की उस विशेषता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं, जहाँ

केवल आर्थिक उत्पीड़न मुद्दा नहीं है, बल्कि असली मुद्दा है भारतीय समाज की संरचनागत बनावट। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, "दलित शब्द मार्क्स प्रणीत सर्वहारा शब्द के लिए समानार्थी लगता है। लेकिन इन दोनों शब्दों में पर्याप्त भेद है। दलित की व्याप्ति अधिक है, तो सर्वहारा की सीमित। दलित के अन्तर्गत सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक शोषण का अंतर्भाव होता है, तो सर्वहारा केवल आर्थिक तक ही सीमित है। प्रत्येक दलित व्यक्ति सर्वहारा के अन्तर्गत आ सकता है, लेकिन प्रत्येक सर्वहारा को दलित कहने के लिए बाध्य नहीं हो सकते.. अर्थात् सर्वहारा की सीमाओं में आर्थिक विनमता का शिकार वर्ग आता है, जबकि दलित विशेष तौर पर सामाजिक विनमता का शिकार होता है।"

'अपने-अपने पिंजरे' की अंतर्वस्तु के गठन में दलित जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी यानी वर्णव्यवस्था प्रेरित सामाजिक विनमता की विभिन्न फलश्रुतियों का मार्मिक चित्रण किया गया है। यह लेखक के जीवन में मौजूद निर्मम यथार्थ का चित्रण है, लिहाजा यह कलावादी उच्छलन के स्थान पर विद्रोह और असहमति का सर्जनात्मक विस्फोट है। इस अर्थ में इसमें 'कला' का चित्रण नहीं हुआ है बल्कि जीवन की जिजीविषा के श्रोतों का संधान है। देशकाल निरपेक्ष रचना सन्दर्भ के स्थान पर कर्म सौन्दर्य से सम्पन्न 'अपने-अपने पिंजरे' के वैचारिक धरातलों का और भी विस्तृत अध्ययन अपेक्षित है। रचनाकार के जीवन की घटनायें हमें भारतीय जीवन की विभिन्न जातिगत एवं सांस्कृतिक दुरभिसंधियों से रू-ब-रू कराती हैं।

20.2.1 यातना और अनुभव से उपजा चिंतन

वर्णव्यवस्था और जाति व्यवस्था से प्रेरित-संचालित दलित उत्पीड़न के केंद्र बिन्दु के रूप में गाँव को चिन्हित करते हुए प्रायः यह कहा जाता है कि 'भारतीय गाँव दलित उत्पीड़न के यातना गृह हैं' लेकिन मोहनदास नैमिशराय का जीवन विकास हमें इस तथ्य से साक्षात्कार कराता है कि शहर भी इस उत्पीड़न के कदमताल मिला रहे हैं। 'अपने-अपने पिंजरे' में वर्णित दलित यथार्थ मेरठ शहर में केन्द्रित है, अवांतर रूप में इसमें ग्रामीण परिदृश्य भी मौजूद है। यानि शहर की प्रगतिशीलता की अवधारणा पर आत्मकथन नये सिरे से विचार के लिए उकसाता है। लेखक का एक दलित जाति यानी चमार के घर में पैदा होना उसके लिए सबसे बड़ा अभिशाप है। स्वयं लेखक के शब्दों में, "हम कहीं भी जायें, कितनी भी बड़ी कक्षा में पढ़ें, जातियाँ हमारा पीछा नहीं छोड़तीं। जहाँ भी हम जाते, वे भी बिना किसी रोक-टोक के जा पहुँचती थीं। बल्कि हमारे साथ-साथ चलती, उठती-बैठती थीं। कभी-कभी तो साँप भी केंचुली त्याग देता है, पर आदमी अपनी जाति की केंचुली नहीं छोड़ पाता। वह जीवन से मृत्यु तक उसी केंचुली के भीतर रहता है।" जाहिर है यातना की खुरदरी राहों से गुजरकर जो अनुभव अर्जित हुआ इसे एक वैचारिक अन्विति के साथ मोहनदास नैमिशराय ने आत्मकथन 'अपने-अपने पिंजरे' में पिरोया। यातना की इस यात्रा का सबसे खौफनाक पक्ष था जाति के साथ गुलामी की फसल का, जिसे सवर्ण दर्शन ने सदियों पुरानी वर्णव्यवस्था की अवधारणा के साथ ईजाद किया। बकौल मोहनदास, "पीढ़ी-दर-पीढ़ी गुलाम थे। इधर माँ बच्चा जनती और उधर पैदा होने वाले बच्चे के माथे पर उसकी जात लिख दी जाती। उसे उसकी जात की पहचान से रू-ब-रू करा दिया जाता।"

यातना की सदियों पुरानी इस कहानी को इस तरह सृजित किया गया था, जिसमें गौरव या दर्प का एक भी अहसास नहीं बचे। 'अपने-अपने पिंजरे' के लेखक मोहनदास नैमिशराय को इस विरासत का तल्ख अनुभव था। लेखक ने अतीत की छानबीन की तो उसे इतिहास और संस्कृति में ही उत्पीड़न के रहस्य साफ होते नज़र आये। बिना गुनाह के अपमान का यह निर्मम उदाहरण था, 'हम लंबे समय से अपमान सहते आये थे, पर गुनहगार न थे हम।'

हम हारे हुए लोग थे, जिन्हें आर्यों ने जीत कर हाशिये पर डाल दिया था। हमारे पास अंग्रेजों के द्वारा दिये गये तमगे, मेडल, पुरस्कार न थे। हमारे पास था सिर्फ कड़वा अतीत और ज़ख्मी अनुभव। मन शरीर पर चोट पड़ती तो वे ही ज़ख्म हरे हो जाते। सदियों से गर्दियों में रहते-रहते अपने इतिहास से कट गये थे। अपने संस्कृति भूल गये थे। हमारे हथियार भोथरे हो गये। पहले हम उजड़े फिर बिस्तियाँ, बाद में संस्कृति। इस विरासत में यौन उत्पीड़न और परिवार के बिखरने के खौफनाक मंजर भी नाभिनालबद्ध थे, 'हजारों व-नों से टूटने-बिखरने का यही क्रम चलता रहा। बस्तियों से उजड़कर मैदान, खेत, पहाड़, सड़क, फुटपाथ और न जाने कहाँ-कहाँ हम पसरे। हमने आसरा ढूँढा। पीढ़ी-दर-पीढ़ी दुःख सहने की प्रक्रिया से हम दास बनते गये। हमारी गिनती गुलामों में की जाने लगी। वे मालिक बन बैठे। वे मालिक बन बैठे। हमारी औरतें उनकी रखैल बनीं। हम अपनी औरतों से कटते गये। भारतीय सामाजिक संरचना में दलितों का वर्ग इस तरह के अभिशापों का शिकार रहा। आत्मकथन लेखक ने अपनी बस्ती के आलोक में इन यातनाओं को बखूबी महसूस किया। दलित उत्पीड़न के वे अनुभव जो विद्यार्थी जीवन, कार्यक्षेत्र एवं एकटीविस्त जीवन के दौरान जाने अनजाने अर्जित हुए, उन्हें आत्मकथन लेखक ने सिलसिलेवार एवं योजनाबद्ध ढंग से 'अपने-अपने पिंजरे' में पिरोया है।

20.2.2 असहमति और विद्रोह का समाज दर्शन

ब्राह्मण संस्कृति का मूल आधार जाति प्रथा है, जिसका विस्तार सामाजिक-आर्थिक संरचना में आसानी से दिखायी पड़ता है। आधिपत्य की इस संस्कृति का परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण संस्कृति मजबूत होती चली गई और भारत के मूल निवासियों (दलित-पिछड़ा वर्ग) यानी श्रमण संस्कृति हाशिए पर चली गयी। लेकिन यह संस्कृति कभी न-ट नहीं हुई। संवेदनशील विचारकों ने अपने दार्शनिक विन्यासों में ब्राह्मणवादी संस्कृति की असलियत को बेनकाब किया। असहमति और विद्रोह से अर्जित इस समाज दर्शन की विभिन्न फलश्रुतियों का प्रभाव मोहनदास नैमिशराय की चिंतनशैली पर पड़ा। इसके साथ ही उनके जीवन के व्यावहारिक अनुभवों ने इसके लिए प्रखर रूप से प्रेरित किया। 'अपने-अपने पिंजरे' का नायक विद्यार्थी जीवन से पत्रकार जीवन तक पारंपरिक जातिवादी व्यवस्था से असहमति व्यक्त करता है। असहमति और विद्रोह के दो वाक्य को प्रसंगवश उद्धृत किया जा सकता है। आत्मकथन के पहले भाग में एक घटना का वर्णन है। मोहनदास नैमिशराय के घर के पास बने मंदिर में जब दलित बस्ती के लड़के जाते थे तब अक्सर उनके कानों में इस तरह की हिकारत भरी वाणी पहुँचती, 'सब भरस्ट करके रख दिया है इन्होंने।' एक दिन पुजारी ने झल्लाकर प्रसाद की चाहत रखने वाले मोहनदास से कहा, 'तू चमार का है ना।' सब कुछ भ्रष्ट कर दिया। कितनी बार कहा तुम ढोरों से, प्रसाद दूर से लिया करो।' इस दुर्व्यवहार से क्षुब्ध मोहनदास में विद्रोह की चिनगारी फूटी। बकौल मोहनदास, 'मंदिर के कोने-कोने से जैसे हमारे लिए गालियाँ आ रही थीं। हम भी क्या करते। हमारा तो कोई मंदिर न था। सारे मंदिर सवर्णों के थे। वे ही पुजारी थे और वे ही चौकीदार। मेरे भीतर ज्वालामुखी उग आया था जिसने मुझे झिझोड़कर रख दिया था। मैंने आवेश में वहीं प्रसाद पुजारी के सामने थूक दिया था।

'थू, तुम्हारा मंदिर और तुम्हारा प्रसाद...।'

घटना ने जिस विद्रोह के समाज दर्शन को जन्म दिया, उसमें रूढ़ियों ने नकार का विवेक सक्रिय था। लेखक की स्वीकारोक्ति है, 'उस दिन के बाद मैं मंदिर नहीं गया था। मंदिर मुझसे मीलों दूर हो गया था, जैसे मंदिर के भीतर रखे पत्थर के देवताओं के प्रति नफरत-सी हो गयी थी। शायद यहीं से मेरे भीतर कोई नास्तिक पुरु-न आकर बैठ गया था। बाद में नफरत और अनास्था और बढ़ी। जैसे कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाकर उन्हें आग पर

सँककर मजबूत बनाता है वैसे ही मंदिर के प्रति मेरे मन में रची-बसी ग्रंथियाँ समय की आँच में और मजबूत हुई थीं।’

विचार की इसी शुरुआती पीठिका पर भवि-य की अनेक घटनाओं ने रूपाकार ग्रहण किया। लेखक का मानना है, विद्रोह के समाज दर्शन के निर्मित हुए बिना जीवन की सार्थक परिणति संभव नहीं। आत्मकथन के दूसरे खंड में एक घटना का वर्णन है। मेरठ के निगार टॉकीज में जी.पी. सिप्पी कृत फिल्म ‘अहसास’ में चमार जाति पर अभद्र टिप्पणी के खिलाफ नैमिशराय जी के नेतृत्व में एक दल बना जिसने जिलाधीश को फिल्म प्रदर्शित न करने की गुजारिश के साथ ज्ञापन दिया। बावजूद इसके फिल्म प्रदर्शन पर रोक नहीं लगी। फिर क्या था, दलित युवकों ने तय किया सवर्णवादी प्रशासन को जगाया जाय। उग्र प्रदर्शन हुआ, अंततः फिल्म प्रदर्शन पर रोक लगी।

आत्मकथन के विभिन्न प्रसंगों के माध्यम से असहमति और विद्रोह के समाज दर्शन के कारणों की छानबीन की गयी है और उसकी फलश्रुतियों का मूल्यांकन भी किया गया है। कहना न होगा लोकतांत्रिक समझ के लिए ऐसे वितान आधारभूत प्रेरणा का काम करते हैं।

20.2.3 यथार्थ का बेबाक विश्लेषण

दलित आत्मकथनों की एक आधारभूत विशेषता यह भी है कि उनमें जीवन के खुरदरे यथार्थ और पीड़ा की अनुभूति को यथार्थपरक ढंग से विश्लेषित किया जाता है। यथार्थ के इस बेबाक विश्लेषण में न सिर्फ पारंपरिक सत्ता प्रतिष्ठानों से उत्कट संघर्ष का चित्रण होता है अपितु वर्णवादी समाज के बीच संघर्षरत दलित दृष्टि या अस्मिता की प्रक्रिया का भी वर्णन होता है। इस दृष्टि से ‘अपने-अपने पिंजरे’ एक उल्लेखनीय कृति है। आत्मकथन में रोजमर्रा के जीवन-यापन में बुनियादी जरूरतों, शैक्षिक व्यवस्था में दलितों के प्रति अपनानी जाने वाली घृणादृष्टि, रोजगार के मोर्चे पर आरक्षण के प्रति सवर्णवादी आग्रहों, पारंपरिक दलित व्यवसायों के प्रति तथाकथित उच्च जाति की मानसिकता, सवर्णवादी आग्रहों से प्रेरित संचालित शासन-व्यवस्था, दलित राजनीति, अवसरवाद, पारिवारिक मोर्चे पर आदर्श के कारण आने वाली भौतिक दिक्कत इत्यादि के चित्रण में यथार्थदृष्टि का परिचय दिया गया है। मुख्यधारा की आत्मकथनों से यह चित्रण इस अर्थ में उल्लेखनीय है कि इसमें खुद को भव्य या दिव्य तरीके से पेश करने का अहंकार सक्रिय नहीं है।

20.2.4 दृष्टि की व्यापकता का वितान

प्रायः दलित आत्मकथनों पर यह आरोप लगाया जाता है कि उनकी दृष्टि का विस्तार महज उत्पीड़न और उसी से उपजी प्रतिक्रिया तक सीमित है। ‘अपने-अपने पिंजरे’ का लेखक उत्पीड़न और उससे उपजी प्रतिक्रिया से आगे जाकर उन कारणों की छानबीन भी करता है, जिनके चलते एक वर्णवादी अमानवीय समाज का जन्म होता है। आत्मकथन में समाज एवं देश के संदर्भ में दलितों की सकारात्मक भूमिका को रचनात्मक मुखरता के साथ रेखांकित किया गया है। साथ ही उन कारणों की छानबीन भी की गई है, जिनके चलते दलितों के साथ अमानवीय व्यवहार की रूढ़ियाँ बनीं। आत्मकथन लेखक को इस बात का गर्व है कि वे उस समुदाय से संबद्ध नहीं हैं, जिसने शो-नण किया, निर्दो-नों को सताया और धर्म के नाम पर अमानवीय व्यवस्था की तरफदारी की। बकौल लेखक, ‘हम गरीब ज़रूर थे पर हमने न देश बेचा न अपना जमीर।’ न हम डंडीमार थे और न ही सूदखोर। चोर लुटेरों की श्रेणी में हम नहीं आते थे। हमारे पुरखों ने घर बनाये, शहर बनाये पर न हमारे पास ढंग के घर थे और न बस्तियाँ। शहरों के भीतर बसने की कल्पना भी

करना हमारे लिए मुश्किल थी। शहर-दर-शहर और उनके आसपास छिदरे हमारी जात के लोगों की यही दास्तान थी।...शहर के नाले/कूड़ाघरों/नदियों के कछारों/कब्रिस्तान के आस-पास हम जहाँ-तहाँ पसरते रहे। पर सवर्णों की तरह हमने न मुगलों से समझौता किया न अंग्रेजों से सौदेबाजी की और न शहर में बख्सीस में हवेलियाँ/कटरे/मंदिरों के नाम बड़े-बड़े भूखंड स्वीकार किये। समूचे शहर में उनके बड़े-बड़े भवन, पक्के मकान और हाशिये पर हमारे घर। किसने ऐसी संरचना की होगी, आखिर शहर को कौन बाँट गया, शहर की बस्तियों/गलियों/मोहल्लों/कटरों को जातियों के खानों में। हमारे माथे पर हमारी जातियों के नाम भी खुदते गये। ज़रख-दर-ज़रख जिनकी टीस हम झेलते रहे। सवाल हमारे लिए सलीब बने, उत्तर कहीं से न मिले।

ज़ाहिर है परंपरा की गहरी छानबीन की ऐसी सोच आत्मकथन के चित्रणों को तात्कालिक विश्लेषण की बजाए दलित परिदृश्य के गंभीर मंथन के लिए प्रेरणा देती है। रचनाकार इतिहास यात्रा को समाजशास्त्रीय सरोकारों के आईने में परखने की कोशिश करता है।

आत्मकथन में वर्णवादी सामाजिक संरचना की विरासत, सांमती-साम्राज्यवादी व्यवस्था द्वारा इस संरचना के इस्तेमाल की रणनीतियों का खुलासा, पूँजीवादी दु-चक्रों द्वारा घृणा के समाजशास्त्र को जारी रखने की चालों, आवारा पूँजी, के हृदयहीन मंसूबों द्वारा हाशिये के वर्णहीन समाज को शिकार बनाने की दुरभिसंधियों को विश्लेषित किया गया है। गाँव से शहर तक कोई ऐसा सिरा नहीं बचा है, जहाँ दलित उत्पीड़न का रूप उपस्थित न हो। आत्मकथन की व्यापकता के वितान में उल्लिखित संदर्भों को शामिल करना रचनाकार की व्यापक दृष्टि का परिणाम है।

आत्मकथन में उत्पीड़न की विरासत को गहरायी से समझने की दृष्टि रचनात्मक सरोकारों की दिशा स्पष्ट करती है। दलित जीवन की त्रासदियों को पूर्वजन्म, कर्मफल, अगला जन्म जैसी तथाकथित धार्मिक मिथकीय कल्पनाओं से यथास्थितिवादी स्वरूप प्रदान करने की कोशिश होती है। लेखक अपने जीवनगत अनुभवों (जिनमें बचपन की पीड़ा, शिक्षा व्यवस्था में मौजूद, वर्णवादी दृष्टिकोण, सामाजिक जीवन में अवर्णों के प्रति घृणादृष्टि, श्रम और पूँजी के मोर्चे पर जारी वर्णभेद, दलित अवसरवाद, दलित राजनीति की जटिलताओं इत्यादि जैसे विविध दृश्य खंड शामिल हैं। के माध्यम से उत्पीड़न की विरासत को समग्र रूप से विन्यस्त करता है।

20.3 मRi hMε dh fojkl r cjkLrs ^vi u:-vi us fi at j\$

20.3.1 वर्णव्यवस्था और पितृसत्तात्मकता

श्रम आधारित बहुसंख्यक अवर्ण आबादी को शोणित करने वाली ब्राह्मणवादी संस्कृति ने अपनी केन्द्रीयता सतत् बनाये रखने के लिए वर्ण-व्यवस्था और पितृसत्तात्मकता की अवधारणा को स्थापित किया। मोहनदास नैमिशराय ने जीवन अनुभव के दौरान इसे अच्छी तरह देखा-परखा। ब्राह्मणवादी संस्कृति के अलमदार सवर्ण दलितों और उनकी महिलाओं को अपनी मिल्कियत समझते थे। व्यवस्था की उपलब्धियों से पहले अवर्णों की वंचित किया गया, फिर उनकी लाचार रहन-सहन पर फिकरे किसने की परंपरा भी शुरू हुई। दलित चौतरफा प्रहारों के शिकार हुए। इस्लाम के कट्टरवादी रूप ने उन्हें हिन्दू कहकर धिक्कारा दूसरी तरफ वर्णवादी हिन्दुत्व ने उन्हें सदैव उपहास और घृणा का पात्र बनाया। पितृसत्तात्मक व्यवस्था औरत को हमेशा कमतर मानती है। अगर औरत दलित हो तो उत्पीड़न और भी बेखौफ। कई कड़वे अनुभवों के बाद लेखक ने नोट किया, “लोग बाल की खाल खींचते हैं। मरे हुए जानवरों का माँस खींचते। वे कहते थे कि हम मुर्दा जानवरों

की खाल खींचते हैं। मर हुए जानवरों का माँस खाते हैं, शराब पीते हैं। जुआ खेलते हैं। गंदी-गंदी गालियाँ देते हैं। अपनी औरतों को पीटते हैं। हमारी औरतें जंगल जाती हैं। एक टोकरी गोबर पर बिक जाती है। उनके पाँव दबाती हैं। उनका विस्तर बनती हैं।
.. दंगे भड़कने पर मुसलमान हमें हिन्दू समझकर मारते हैं और जब जब कर्फ्यू नहीं होता तो हिन्दू चमार समझकर अपमानित करते हैं। हमारी माँ-बहनों के जिस्म को झिंझोड़ना अपना अधिकार समझते हैं। पर हमारे कोई अधिकार नहीं थे।"

वर्ण-व्यवस्था से ही जुड़ी है अस्पृश्यता की अवधारणा। अस्पृश्यता ने दलितों को सभी प्रकार के मानवीय और प्राकृतिक अधिकारों से वंचित किया। इस शो-ण को वैधता प्रदान करने के लिए 'मनुस्मृति' जैसे ग्रंथों में ऐसी संहिताओं की रचना की गयी, जिनसे सवर्णों को शूद्रों से उत्पादक वर्ग होने के बावजूद सेवा कराने के कार्य का अधिकार दिया गया। लेखक लिखते हैं, "हमारी जात के मर्द-औरतों को चौबीस घंटे उनकी सेवा करने को तत्पर रहना पड़ता था। दिन का कोई समय हो, रात कितनी भी गहरी हो गयी हो। सवर्णों का मूलतंत्र भी तो यही था। दलितों की पुरानी पीढ़ी के साथ नयी पीढ़ी को गुलाम बनाकर रखना। हमारा काम था सेवा करना। हम सेवादार थे और वे हमारे मालिक। उनके हाथ में हंटर होते, चाकू होते, लाठी-बल्लम होते। वे इनके साथ धर्म, भाग्य और भगवान का हथियार भी इस्तेमाल करते। यही तो हमारा भाग्य है। ऐसा हमें बार-बार याद दिलाया जाता।"

वर्णव्यवस्था अपनी नींव पुख्ता रखने और वर्चस्व बनाये रखने के लिए धर्म, भाग्यवाद, पुनर्जन्म, कर्मफल जैसे सिद्धान्तों का सहारा लेती रही। आत्मकथन लेखक ने इन सबका यथा प्रसंग विश्लेषण किया है।

20.3.1 व्यक्ति अस्मिता बनाम जाति व्यवस्था

वर्ण-व्यवस्था और जाति व्यवस्था के सोपानीकृत श्रेणी विभाजन के कारण व्यक्ति की प्रतिभा दायम हो जाती और उसकी जात प्रधान। व्यक्ति योग्यता और प्रतिभा को नकारने के अनेक पहलुओं का चित्रण आत्मकथन में मौजूद है। जाति व्यवस्था का आतंक और दर्प इस तरह सक्रिय है कि व्यक्ति की जात जानने के बाद ही यह तय होता है कि उससे संवाद हो रहा है, वह अवर्ण है तो बातचीत बंद कर दी जाती है। मेले में जा रहे लेखक के परिवार को बार-बार इस कड़वे सच का सामना करना पड़ा। मामा की बारात में जाते हुए नाना ने लेखक को यह समझाया, 'रास्ते में कोई भी जात बतलाओ, पर अपनी जात बिल्कुल नहीं। हमारी जात का तो नाम सुनकर लोग आग बबूला हो जाते थे।' उसी तरह दीदी के घर जाते समय प्यासे लेखक से पहले जात पूछी जाती है, फिर कहा जाता है, 'म्हारे घर चमारों की खत्तर पानी ना है।' जाति व्यवस्था की संरचना व्यक्ति अस्मिता को इस तरह धकेलती है कि लेखक को जोहड़ का गंदा, बदबूदार पानी पीकर प्यास बुझानी पड़ी। व्यक्तित्व गढ़ने के केन्द्रीय संस्थानों अर्थात् विद्यालयों का परिवेश भी ऐसा ही है, जहाँ लगातार व्यक्ति अस्मिता को ध्वस्त और जाति व्यवस्था को प्रतिष्ठित करने का माहौल सक्रिय है।

लेखक की टिप्पणी गौरतलब है, "अध्यापक हमारे नाम लेकर कम बुलाते थे, बात-बात में चमार दरवज्जे वाले, कह संबोधन किया करते थे। धीरे-धीरे सभी लड़कों को पता चल गया था कि हम जात से चमार हैं, क्योंकि हम चमार नाम की बस्ती में रहते थे।....कई बार मन किया जो-जो अध्यापक हमें बस्ती का नाम लेकर पुकारते हैं उनकी शिकायत करनी चाहिए, लेकिन हममें से कोई भी किसी की भी शिकायत न कर सका था। कोई भी नया अध्यापक आता वह हमारा नाम बाद में पूछता। पहले हमारे बाप का नाम पूछता। हम कहाँ रहते हैं, हमारा बाप क्या काम करता है आदि-आदि। बस इस तरह धीरे-धीरे वे सब बात

पूछ लिया करते थे। अपने आप पता लग जाता था कि हमारे जिस्म के भीतर कहाँ-कहाँ घाव हैं। फिर वे उन घावों को छेड़ते। आत्मकथन प्रभावी ढंग से व्यक्ति अस्मिता का सर्वर्ण मानसिकता द्वारा रौंदे जाने की अनेक प्रक्रियाओं एवं प्रसंगों का विवेचन करता है।”

20.3.2 वर्णवादी समाज और बहि"कृत बस्तियाँ

‘अपने-अपने पिंजरे’ आत्मकथन में भारतीय गाँव और शहरों की बस्तियों में सक्रिय वर्णवाद को चित्रित किया गया है। जात के अनुसार बस्ती और उसी के मुताबिक ही नागरिक सुविधाओं की उपलब्धता होती है। लेखक ने इस परिदृश्यों का सटीक विश्लेषण किया है। ब्राह्मणवादी संस्कृति की इस फलश्रुति को न मुगलों ने छेड़ा और न ही अंग्रेजों ने। मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं- ‘मेरठ में मराठे आये और मुगल भी। फिरंगी अपनी भा-ना तथा संस्कृति का समूचा लश्कर लेकर आये। जाति और वर्णों के खाने में पहले से ही बस्तियाँ बँटी थीं। हर आने वाले हमलावर दस्ते ने उन्हें अलग-अलग नाम दिये। बस्तियों के चप्पे-चप्पे पर जातिगत नामों की छाप थी। कुछ बस्तियाँ बाड़ों और पाड़ों के नाम से जानी गयीं-जत्तीवाड़ा, पौड़ीवाड़ा, जटवाड़ा, छीपीवाड़ा, खटीकवाड़ा, ठटेरवाड़ा, बनियावाड़ा, आदि-आदि। गलियों पर भी कहीं-कहीं वैसी ही छाप रही। नील की गली, पत्ते वाली गली रोहतगी गली, सुनार गली, कसाइयों वाली गली। मेरे शहर के भीतर बने पुल तथा पुलियों पर भी जातियों की पहचान थी। लोद्धों वाला पुल, सैनी पुल, कसाइयों की पुलिया, धीवरों की फूल...। इससे अलग बेगम पुल, भूमिया का पुल, तथा खूनी पुल भी था। शहर में गेट और दरवाजे भी थे। चमार गेट, दिल्ली गेट, शोहराब गेट, बुढ़ाना गेट और सहाय भी, जैसे बनी सराय।

हर जाति और वर्ग के लोग अपनी-अपनी पहचान में सिमटे हुए। शहर धड़कता था, पर अलग-अलग स्तर में। बस्तियाँ थिरकती-नाचती थीं अलग-अलग बोलियों में। उन सबसे मिलकर बना था यह शहर। कहना न होगा अलग-अलग बस्तियों में व्यवस्थागत बसावट की यह प्रक्रिया जाति विभक्त भारतीय समाज की बुनियादी विशेषता है जिसे आत्मकथन बखूबी प्रकट करता है।

20.4 पूँजीवाद दु"चक्र में जातिवादी संरचना का इस्तेमाल

पूँजीवाद ने वर्ण-जाति आधारित भारतीय समाज का अपने हक में पूरी तरह इस्तेमाल किया। पूँजीवाद ने दलित जीवन को बद से बदतर बना दिया। पूँजीवादी व्यवस्था में श्रम से ज्यादा हैसियत पूँजी की होती है। श्रम करने वाले दलित हैं, जबकि पूँजी के स्वामी पूँजीपति हैं। पूँजी श्रमिकों के शो-नण के लिए तरह-तरह के दु-चक्रों का प्रयोग करती है। दलित श्रमिकों के काम में मीन-मेख निकालकर बाजारवादी व्यवस्था अपने ढंग से शो-नण को अमली जामा पहनाती है। ‘अपने-अपने पिंजरे’ में इस शो-नण का मार्मिक वर्णन किया गया है। लेखक ने नोट किया, ‘दुकानदारों में हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। वे टोकरे में से चप्पल निकाल-निकालकर देखते। उनमें ढूँढ़कर नुक्स निकालते। ऐसे समय पर हमें बहुत बुरा लगता। इतनी मेहनत से बा चप्पल बनाता था। फिर भी वे उसमें कोई न कोई कमी निकाल देते थे। असल में कमियाँ निकालकर वे दाम कम कर देते थे। एक बार घर से टोकरा भरकर माल ले गए थे तो उसे वापस न लाते थे। भले ही कम पैसे मिले। जैसे तैसे भाव पर माल बेच दिया जाता था।’

दलित श्रमिकों/दस्तकारों से खरीदी गयी सैंडिलों/चप्पलों को दुकानदार पाँच गुनी ज्यादा कीमत पर बेचते थे। श्रमिकों/दस्तकारों को ज्यादातर नकद की जगह पर्ची थमा दी जाती। इन्हीं पर्चियों से वे चमड़ा या अन्य कच्चा-माल खरीदते। पर्ची पर सामान देते समय भी

उनका शो-गण होता। इस तरह वे दोहरे शो-गण का शिकार होते। अनवरत शो-गण के कारण अभावग्रस्त हो जाते। अभाव का आलम यह था कि जो चप्पल बनाते उन्हें ही चप्पल नसीब नहीं होती। आत्मकथन लेखक कहते हैं, 'बस्ती के घर-घर में चप्पलें बनती थीं' लेकिन पाँव में बरसों तक ढंग की कोई चप्पल नहीं आयी। बहुत सारे राज्यों में दलितों को चप्पलें पहनने पर जातिव्यवस्था ने रोक लगा रखी थी। आज भी दक्षिण के राज्यों में दलितों को सवर्णों की बस्तियों से गुजरने से पहले जूते-चप्पले हाथ में उठाकर चलने के निर्देश हैं। इस नियम को दलितों/अछूतों पर लागू करने में कथित सवर्ण वर्ग जरा भी कोताही नहीं बरतते, उसी तरह दलित स्वयं भी इसका पालन करते चलते हैं। उन्हें यह डर लगा रहता है कि नियमों के टूटते ही उन पर सवर्ण वर्गों का कहर टूट पड़ेगा। इसी नियम की अनदेखी न करने हेतु दलित चप्पले जूते बनाम बेचते रहे हो, अपने लिए चप्पले-जूते बनाकर नहीं पहन सकते। इसी तरह मुसीबतों से घिरे मोचियों को कई बार बेगार भी खटना पड़ता था।

20.5 वर्णवादी पदानुक्रम, श्रे"ठताबोध और दलित समाज

ब्राह्मणवादी व्यवस्था तले पिसते दलितों में भी जाति प्रथा का नासूर गहरे तक जमा है। 'अपने-अपने पिंजरे' से इस विरोधाभास को ईमानदारी से विश्लेषित किया गया है। शोणित दलितों में जाति आधारित श्रे-ठता के दंभ के कारण एकता नहीं हो पाती। मोहनदास नैमिशराय ने इसके अनेक दृ-टांतों को देखा, दलितों में ही जाटव और वाल्मीकि जातियों के बीच संवाद का अभाव तो था ही, साथ ही आपस में घृणा और तनाव का वातावरण भी रहता था। कभी-कभी तो मारपीट भी हो जाती थी। हमारी जात के घरों में भी सफाई करने वाली आती थीं जिन्हें अन्य की तरह हम भी अबे ओ भंगी के अरी ओ भंगन...आदि नामों से पुकारने में, अपना बड़प्पन समझते थे। उन्हें बात-बात पर गालियाँ भी देते थे। अपमान और अवमानना के साथ अस्पृश्यता के संदर्भ भी दलित समाज के संघर्ष को कुंद करते हैं। ब्राह्मणवादी व्यवस्था की इस सोच का विस्तार दलित समाज को अपनी गिरफ्त में लिये हुए है। लेखक की निगाह इसे बखूबी महसूस करती है। दलित समाज तक ब्राह्मणवादी असमानता की सोच के एक प्रसंग पर लेखक की टिप्पणी है। 'उस समय तक हमारी जात के विवाह आदि में कोई भी वाल्मीकि समाज का व्यक्ति पंगत में हमारे साथ बैठने की हिम्मत नहीं कर सकता था और न ही हमारे बीच से ही कोई उन्हें बुलाने का साहस करता था। एक-दूसरे के प्रति घृणा तथा ई-र्या अधिक थी। वर्णवादी पदानुक्रम और श्रे-ठताबोध के दलित समाज तक विस्तार के विभिन्न पहलुओं का चित्रण करते हुए लेखक ने इस बात पर अफसोस जाहिर किया है कि 'आत्ममंथन की प्रवृत्ति का अभाव दलित समाज की एकता और विकास में बाधक है।'

20.6 अपने-अपने पिंजरे : संरचनागत वैशि"ट्य

आत्मकथन लेखक ने परंपरागत आत्मकथनों से अलग 'अपने-अपने पिंजरे में' खुरदरे और बेलौस यथार्थ को रोमानी शैली की जगह यथार्थवादी शैली में प्रस्तुत किया है। अपने जीवन को महान और दूसरे जीवन को क्षुद्र घोषित करने का यहाँ उद्देश्य नहीं है। भूमिका में विस्तार से परंपरागत आत्मकथनों से 'अपने-अपने पिंजरे' के अलगाव बिन्दुओं को रेखांकित किया गया है। जहाँ परंपरागत आत्मकथनों प्रायः जीवन के अंतिम दौर में लिखी जाती हैं, वहीं दलित आत्मकथन लेखकों ने अपने जीवन की युवावस्था में आत्मकथन लिखे। महीप सिंह की टिप्पणी गौरतलब है, 'आत्मकथन युवा लेखकों द्वारा लिखे गये हैं, जिन्होंने वृत्तों के माध्यम से यह जानने का प्रयास किया है कि हम आखिर कौन हैं, जिस रूप में आज हम समाज में पहचाने जाते हैं, उसके कारण क्या हैं। ऐसे लेखक पीछे मुड़कर इसलिए देखते हैं कि सामने का रास्ता साफ और स्प-ट दिखायी दे।'

मोहनदास नैमिशराय की यह कृति इस अर्थ में आत्मकथन है। 'उन्होंने अपने जीवन की उन तल्ख और निर्मम सच्चाइयों को इसमें उकेरा है, कहना न होगा इनमें मानवीय पीड़ा अपनी पूरी सघनता से व्यक्त हुई है।' - विमल थोरात (दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर)

प्रायः दलित आत्मकथनों पर यह आरोप लगाया जाता है कि उनमें 'दलित जीवन की पीड़ा के आख्यान की एकरसता है। इससे अलग 'अपने-अपने पिंजरे' में दलित जीवन के विभिन्न विरोधाभासों को भी रचना संयोजन में समाहित किया गया है। दलितों के अंतर्विरोध, मसलन अस्पृश्यता, अवसरवाद, स्त्री-उत्पीड़न, सांप्रदायिक-कट्टरता इत्यादि प्रसंगों को समाविष्ट करना आत्मकथन लेखक की विस्तृत दृष्टि का प्रमाण है।'

भा-ना और शिल्प में सौन्दर्य मानक क्या होंगे इस सवाल पर 'अपने-अपने पिंजरे' यथार्थवादी दृष्टि का पक्षधर है। यदि जीवन में कुरूपता है तो रचना कहती है कि कुरूप और भ्रष्ट के उद्घाटन में ईमानदारी से कोताही की कोई जरूरत नहीं, ताकि जनतांत्रिक समाज की दिशा में कोई पहल रूपाकार ग्रहण कर सके।

20.7 सारांश

आपने इस इकाई में दलित जीवन को मोहनदास नैमिशराय के व्यक्तित्व विकास और गठन के आलोक में समझा। आत्मकथन 'अपने-अपने पिंजरे' जहाँ सदियों पुरानी तथाकथित ब्राह्मणवादी संस्कृति के सच का बयान करता है। वहीं प्रतिरोध के उन प्रखर स्वरों के बनने की प्रक्रिया को भी संवदेनशीलता से अभिव्यक्त करता है जिसे दलित दृष्टि ने संभव किया। अंतर्वस्तु और रूप से जुड़े विभिन्न पहलुओं से भी आप परिचित हुए।

20.8 dN उपयोगी पुस्तके

d% vkèkkj xfk

i) nfyR vkRedFku & ejkBh l s vufnr

'अछूत', (1978), दया पवार, अनुवाद - दामोदर खडसे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. संस्करण 1980, तृतीय आवृत्ति, 1996, पुनः 2001।

'अक्करमाशी', (1984), शरण कुमार लिम्बाले, अनुवाद - डॉ सूर्य नारायण रणसुभे, ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991, द्वितीय संस्करण, 1997।

'उचक्का', (1987), लक्ष्मण गायकवाड़, अनुवाद - डॉ सूर्य नारायण रणसुभे, प्रथम संस्करण 1992, पेपरबैक संस्करण, 2001, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।

'छोरा कोल्हाटी का', (1994), किशोर शांताबाई काले, अनुवाद - अरुंधती देवस्थले, प्रथम संस्करण 1997, पेपरबैक संस्करण, 1999, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।

'जीवन हमारा', (1986), बेबी कांबले, अनुवाद - ललिता अस्थाना, प्रथम संस्करण 1996, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली।

'तराल-अंतराल', (1976), शंकरराव खरात, अनुवाद - केशव प्रथमवीर, प्रथम संस्करण 1987, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

'नाज़ा', (1990), ('माज्या जल्माची चित्तरकथा') शांताबाई कृष्ण कांबले, दानिश बुक्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009।

- 'पराया', (1980), लक्ष्मण माने, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993।
- 'यादों के पंछी', (1978), प्र. ई. सोनकांबले, अनुवाद डॉ. सूर्य नारायण रणसुभे, प्रथम संस्करण 1983 पेपरबैक संस्करण, 2004, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।
- 'डेरा डंगर', (1983), दादा साहेब मोरे, प्रथम संस्करण, 2001, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।
- 'अंतःस्फोट' (1981), कुमुद पावडे, आनंद प्रकाशन, औरंगाबाद, 'मेरी संस्कृति कथा', शीर्षक हिस्से का अनुवाद रवीन्द्र देवघरे, 'कथादेश' पत्रिका, अप्रैल 2005, दिल्ली।

ii) fglnh nfyr vkRedFku

- 'अपने-अपने पिंजरे', (दो भाग), मोहनदास नैमिशराय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली। भाग-1 - 1995, भाग-2 - 2002।
- 'जूठन', (1997), ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।
- 'तिरस्कृत', (2002), सूरज पाल चौहान, अनुभव प्रकाशन, गाजियाबाद।
- 'संतप्त', (2006), सूरज पाल चौहान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
- 'झोपड़ी से राजभवन, (2002), माता प्रसाद, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली।
- 'दोहरा अभिशाप' (1999), कौशल्या बैसंत्री, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली।
- 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' (2009), श्योराज सिंह बेचैन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
- 'मेरा सफर मेरी मंजिल', (2000), डी आर जाटव, समता साहित्य सदन, जयपुर।
- 'मुर्दहिया', तुलसीराम, राजकमल प्रकाशन, 2011।
- 'शिकंजे का दर्द' सुशीला टाकभोरे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वारा शीघ्र प्रकाश्य।

iii) i atkch l s vupkn nfyr vkRedFku

- 'छांग्या रूख' (2002), बलबीर माधोपुरी, अनुवाद - सुभाष नीरव, प्रथम संस्करण, 2007, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

[k½ vkykpuk & xfk

- आंबेडकरी स्वकथने : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन (मराठी, 2006) डॉ. अनिल सूर्या, सुगावा प्रकाश, पुणे।
- दलित पर्सनल नैरेटिव्स, (2010) राजकुमार, ओरियन्ट ब्लैकस्वान, हैदराबाद।
- 'राइटिंग कास्ट/राइटिंग जेण्डर : नैरेटिंग दलित वीमेन्स टेस्टीमोनियज (2006), शर्मिला रेगे, जुबान, काली फॉर वीमेने, नयी दिल्ली।
- ट्रांसलेटिंग कास्ट (2003) सं. तपन बसु, कथा, वीमेन, नयी दिल्ली।
- जेण्डर एण्ड कास्ट (2003) सं. अनुपमा राव, काली फॉर वीमेन, नयी दिल्ली।

दलित एण्ड रेलिजन (2009) सं. डी. मुरली मनोहर अटलांटिक, नयी दिल्ली।

दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, विमल थोरात, अनामिका पब्लिशर्स, नयी दिल्ली प्रा. लि., प्रथम संस्करण (2008)।

दलितांची आत्मकथने : संकल्पना व स्वरूप (1999), डा. वासुदेव मुलाटे, स्वरूप प्रकाशन, औरंगाबाद द्वितीय, आवृत्ति 2003।

नैमिशराय मोहनदास - अपने-अपने पिंजरे, भाग-1, वाणी प्रकाशन, दरियांगंज, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1991।

नैमिशराय मोहनदास - अपने-अपने पिंजरे, भाग-1, वाणी प्रकाशन, दरियांगंज, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2000।

वाल्मीकि ओमप्रकाश - दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृ-ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, दूसरी आवृत्ति, 2008।

वाल्मीकि ओमप्रकाश - मुख्यधारा और दलित साहित्य, सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009।

रणसुभे सूर्यनारायण - दलित साहित्य स्वरूप ओर संवेदना, अमित प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2009।

चन्द्र सुभा-न- दलित आत्मकथनों - अनुभव से चिंतन, साहित्य उपक्रम, प्रथम संस्करण, 2006।

तेलुगु साहित्य में दलित दस्तक - सं. रमणिका गुप्ता/डॉ. वी. कृणा।

बहु - जुलाई - रमणिका गुप्ता।

दलित चेतना: सोच - सं रमणिका गुप्ता।

दलित साहित्य: सृजन के संदरं - डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी।

दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र - डॉ. शरणकुमार लिंबाले।

भारतीय दलित साहित्य एक परिचय - डा. तेजस्वी कट्टीमनी।

x½ i f=dkvka ds fo'k'skkad

'अपेक्षा' दलित आत्मवृत्त विशेषांक, सं. डॉ. तेजसिंह, दिल्ली, अंक - जुलाई - सितंबर, 2003।

'अन्यथा' दलित-अश्वेत महिलाओं की संघर्ष कथा पर केन्द्रित अंक, सं. कृष्ण किशोर, लुधियाना, अंक-जून 2008।

'दलित अस्मिता' अंक - अप्रैल - जून, 2011।

20.9 प्रश्न/अभ्यास

- 1) 'अपने-अपने पिंजरे' के सरोकारों को स्प-ट कीजिए।
- 2) 'अपने-अपने पिंजरे' दलित यातना के साथ दलित अंतर्विरोध का भी दस्तावेज है, क्या आप इससे सहमत हैं?
- 3) सामंती और पूँजी केन्द्रित व्यवस्था भारतीय वर्ण व्यवस्था का इस्तेमाल अपने हक में कैसे करती हैं, 'अपने-अपने पिंजरे' के आलोक में समझाइए।
- 4) 'अपने-अपने पिंजरे' के संरचनागत वैशि-ट्य का उद्घाटन कीजिए।
- 5) दलित आत्मकथनों की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं? सोदाहरण समझाइए।
- 6) दलित आत्मकथन दलित जीवन के दस्तावेज़ हैं। विवेचना कीजिए।
- 7) सामाजिक जीवन के कौन से रूप दलित आत्मकथनों में दर्ज़ हुए हैं?
- 8) दलित आत्मकथनों में व्यक्त धार्मिक विश्वासों की समीक्षा कीजिए।
- 9) तमाम रुकावटों के बावजूद दलित समुदाय शिक्षा जगत में दाखिल हुआ। पठित आत्मकथनों के आधार पर उत्तर दीजिए।
- 10) डॉ. आंबेडकर का दलित समाज पर क्या असर पड़ा? दलित आत्मकथनों की रोशनी में इसकी व्याख्या कीजिए।
- 11) राजनीतिक आज़ादी की तुलना में सामाजिक स्वतंत्रता को दलित आत्मकथनों में प्राथमिकता दी गई है। तर्कयुक्त उत्तर दीजिए।
- 12) राष्ट्र की प्रचलित अवधारणा से भिन्न राष्ट्र की परिकल्पना दलित आत्मकथनों में विन्यस्त है, ससंदर्भ व्याख्या कीजिए।
- 13) दलित स्त्री आत्मकथनों की विशेषताएँ निरूपित कीजिए।
- 14) दलित आत्मकथनों ने साहित्य की पारंपरिक समझ को बदलने का काम किया है। व्याख्या कीजिए।
- 15) 'जूठन' दलित विवेक के रूपाकार ग्रहण करने का जीवंत दस्तावेज है। कैसे?
- 16) हिन्दी साहित्य में आत्मकथन की परंपरा का विवेचन कीजिए।
- 17) हिंदी दलित आत्मकथन की पृष्ठभूमि का परिचय देते हुए जूठन का परिचय दीजिए।
- 18) हिंदी के प्रमुख दलित आत्मकथन का विश्लेषण कीजिए।
- 19) जूठन की कथावस्तु का विवेचन कीजिए।
- 20) आत्मविश्वास के संदर्भ में जूठन के आशय को स्पष्ट कीजिए।